मानसरोवर

(भाग : ५)

लेखक

प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस बनारस

विषय-सूची

मन्दिर

(१)

मातृ-प्रेम ! तुझे धन्य है । ससार मे और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है । मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है । तीन दिन से सुखिया के मुँह मे न अन्न का एक दाना गया था, न पानी की एक बूँद । सामने पुआल पर माता का नन्हा-सा लाल पडा कराह रहा था । आज तीन दिन से उसने आँखें न खोली थीं । कभी उसे गोद मे उठा लेती, कभी पुआल पर सुला देती । हँसते-खेलते बालक को अचानक क्या हो गया, यह कोई नही बताता था । ऐसी दशा मे माता को भूख और प्यास कहाँ ? एक बार पानी का एक घूँट मुँह मे लिया था, पर कण्ठ के नीचे न ले जा सकी । इस दुखिया की विपत्ति का वारपार न था । साल-भर के भीतर दो बालक गगा की गोद मे सौंप चुकी थी । पतिदेव पहले ही सिधार चुके थे । अब उस अभागिनी के जीवन का आधार, अवलम्ब, जो कुछ था, यही बालक था । हाय ! क्या ईश्वर इसे भी उसकी गोद से छीन लेना चाहते हैं ?—यह कल्पना करते ही माता की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते थे । इस बालक को वह एक क्षण-भर के लिए भी अकेला न छोडती थी । उसे साथ लेकर घास छीलने जाती । घास बेचने बाजार जाती, तो बालक गोद मे होता । उसके लिए उसने नन्हीं-सी खुरपी और नन्ही-सी खाँची बनवा दी थी । जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता—अम्माँ, हमे भी बडी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे , तुम द्वारे माची पर बैठी रहना, अम्माँ, मैं घास बेच लाऊँगा । माँ पूछती—हमारे लिए क्या-क्या लाओगे, बेटा ? जियावन लाल-लाल साड़ियों का वादा करता । अपने लिए बहुत-सा गुड़ लाना चाहता था । वे ही भोली-भोली बातें इस समय याद आ-आकर माता के हृदय को शूल के समान बेध रही थीं । जो बालक को देखता, यही कहता कि किसी की डीठ है, पर किसकी डीठ है ? इस विधवा का भी ससार मे कोई वैरी है ? अगर उसका नाम मालूम हो जाता, तो सुखिया जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ती और बालक को उसकी गोद मे

रख देती । क्या उसका हृदय दया से न पिघल जाता ? पर नाम कोई नही वताता । हाय ! किससे पूछे, क्या करे ?

(२)

तीन पहर रात वीत चुकी थी । सुखिया का चिन्ता-व्यथित चञ्चल मन कोठे-कोठे दौड रहा था । किस देवी की शरण जाय, किस देवता की मनौती करे, इसी सोच मे पड़े-पडे उसे एक झपकी आ गई । क्या देखती है कि उसका स्वामी आकर वालक के सिरहाने खड़ा हो जाता है और वालक के सिर पर हाथ फेरकर कहता है—रो मत, सुखिया ! तेरा वालक अच्छा हो जायगा । कल ठाकुरजी की पूजा कर दे, वही तेरे सहायक होंगे । यह कहकर वह चला गया । सुखिया की आँख खुल गई । अवश्य ही उसके पतिदेव आये थे, इसमे सुखिया को जरा भी सन्देह न हुआ । उन्हे अब भी मेरी सुधि है, यह सोचकर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा । पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से उसकी आँखें सजल हो गई । उसने वालक को गोद मे उठा लिया और आकाश की ओर ताकती हुई वोली—भगवन् ! मेरा वालक अच्छा हो जाय, मैं तुम्हारी पूजा करूँगी । अनाथ विधवा पर दया करो ।

उसी समय जियावन की आँखे खुल गई । उसने पानी माँगा । माता ने दौडकर कटोरे मे पानी लिया और वच्चे को पिला दिया ।

जियावन ने पानी पीकर कहा—अम्माँ, रात है कि दिन ?

सुखिया—अभी तो रात है, बेटा, तुम्हारा जी कैसा है ?

जियावन—अच्छा है, अम्माँ ! अब मैं अच्छा हो गया ।

सुखिया—तुम्हारे मुँह मे घी-शक्कर, बेटा, भगवान् करे तुम जल्द अच्छे हो जाओ ! कुछ खाने को जी चाहता है ?

जियावन—हाँ अम्माँ, थोडा-सा गुड़ दे दो ।

सुखिया—गुड़ मत खाओ भैया, अवगुन करेगा । कहो तो खिचड़ी बना दूँ ।

जियावन—नहीं मेरी अम्माँ, जरा-सा गुड़ दे दो, तो तेरे पैरो पड़ूँ ।

माता इस आग्रह को न टाल सकी । उसने थोड़ा-सा गुड निकालकर जियावन के हाथ में रख दिया और-हाँड़ी का ढक्कन लगाने जा रही थी कि किसी ने वाहर से आवाज़ दी । हाँडी वहीं छोडकर वह किवाड़ खोलने चली गई । जियावन ने गुड़ की दो पिण्डियाँ निकाल लीं और जल्दी-जल्दी चट कर गया ।

(३)

दिन-भर जियावन की तबीयत अच्छी रही। उसने थोड़ी-सी खिचड़ी खाई, दो-एक बार धीरे-धीरे द्वार पर भी आया और हमजोलियों के साथ खेल न सकने पर भी उन्हें खेलते देखकर उसका जी बहल गया। सुखिया ने समझा, बच्चा अच्छा हो गया। दो-एक दिन में जब पैसे हाथ में आ जायँगे, तो वह एक दिन ठाकुरजी की पूजा करने चली जायगी। जाड़े के दिन झाड़ू-बहारू, नहाने-धोने और खाने-पीने में कट गये; मगर जब सन्ध्या-समय फिर जियावन का जी भारी हो गया, तब सुखिया घबरा उठी। तुरन्त मन में शंका उत्पन्न हुई कि पूजा में विलम्ब करने से ही बालक फिर मुरझा गया है। अभी थोड़ा-सा दिन बाकी था। बच्चे को लेटाकर वह पूजा का सामान तैयार करने लगी। फूल तो ज़मींदार के बगीचे में मिल गये। तुलसीदल द्वार ही पर था, पर ठाकुरजी के भोग के लिए कुछ मिष्टान्न तो चाहिए, नहीं तो गाँववालों को बाँटेगी क्या? चढ़ाने के लिए कम-से-कम एक आना तो चाहिए ही। सारा गाँव छान आई, कहीं पैसे उधार न मिले। तब वह हताश हो गई। हाय रे अदिन! कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर उसने अपने हाथों के चाँदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई बनिये की दुकान पर गई, कड़े गिरो रखे, बतासे लिये और दौड़ी हुई घर आई। पूजा का सामान तैयार हो गया, तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिये मन्दिर की ओर चली।

मन्दिर में आरती का घण्टा बज रहा था। दस-पाँच भक्त-जन खड़े स्तुति कर रहे थे। इतने में सुखिया जाकर मन्दिर के सामने खड़ी हो गई।

पुजारी ने पूछा—क्या है रे? क्या करने आई है?

सुखिया चबूतरे पर आकर बोली—ठाकुरजी की मनौती की थी, महाराज, पूजा करने आई हूँ।

पुजारीजी दिन-भर ज़मींदार के असामियों की पूजा किया करते थे; और शाम-सवेरे ठाकुरजी की। रात को मन्दिर ही में सोते थे, मन्दिर ही में आपका भोजन भी बनता था, जिससे ठाकुरद्वारे की सारी अस्तरकारी काली पड़ गई थी। स्वभाव के बड़े दयालु थे, निष्ठावान् ऐसे कि चाहे कितनी ही ठण्ड पड़े, कितनी ही ठण्डी हवा चले, बिना स्नान किये मुँह में पानी तक न डालते थे। अगर इस पर उनके हाथों और पैरों में मैल की मोटी तह जमी हुई थी, तो इसमें उनका कोई दोष न था!

बोले—तो क्या भीतर चली आयेगी ? हो तो चुकी पूजा। यहाँ आकर भरभष्ट करेगी ?

एक भक्तजन ने कहा – ठाकुरजी को पवित्र करने आई है !

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा—ठाकुरजी के चरन छूने आई हूँ, सरकार ! पूजा की सब सामग्री लाई हूँ।

पुजारी—कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ पगली तो नही हो गई है। भला, तू ठाकुरजी को कैसे छुयेगी ?

सुखिया को अब तक कभी ठाकुरद्वारे मे आने का अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली—सरकार, वह तो ससार के मालिक हैं। उनके दरसन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायगी ?

पुजारी—अरे, तू चमारिन है कि नही रे ?

सुखिया—तो क्या भगवान् ने चमारों को नहीं सिरजा है ? चमारो का भगवान् कोई और है ? इस बच्चे की मनौती है, सरकार !

इस पर वही भक्त महोदय, जो अब स्तुति समाप्त कर चुके थे, डपटकर बोले—मार के भगा दो चुडैल को। भरभष्ट करने आई है, फेंक दो थाली-वाली। ससार मे तो आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुरजी की पूजा करने लगेंगे, तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायगी ?

दूसरे भक्त महाशय बोले—अब बेचारे ठाकुरजी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने मे कुछ कसर नहीं है।

ठण्ढ पड़ रही थी, सुखिया खडी कांप रही थी और यहाँ धर्म के ठेकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएँ कर रहे थे। बच्चा मारे ठण्ढ के उसकी छाती मे घुसा जाता था; किन्तु सुखिया वहाँ से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा मालूम होता था कि उसके दोनों पाँव भूमि मे गड़ गये है। रह-रहकर उसके हृदय मे ऐसा उद्-गार उठता था कि जाकर ठाकुरजी के चरणो पर गिर पडे। ठाकुरजी क्या इन्ही के हैं, हम गरीबो का उनसे कोई नाता नहीं है, ये लोग कौन होते हैं रोकनेवाले, पर यह भय होता था कि इन लोगो ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी, तो क्या करूँगी ? दिल मे ऐंठकर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहाँ से कुछ दूर जाकर एक वृक्ष के नीचे अँधेरे मे छिपकर इन भक्तजनो के जाने की राह देखने लगी।

(४)

आरती और स्तुति के पश्चात् भक्तजन बड़ी देर तक श्रीमद्भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारीजी ने चूल्हा जलाया और खाना पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ-हूँ' करते जाते थे और बीच-बीच मे टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा-वार्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

बारे भक्त लोगों ने एक-एक करके घर की राह ली। पुजारीजी अकेले रह गये। अब सुखिया आकर मन्दिर के बरामदे के सामने खड़ी हो गई, जहाँ पुजारीजी आसन जमाये बटलोई का क्षुधावर्धक मधुर संगीत सुनने मे मग्न थे। पुजारीजी ने आहट पाकर गरदन उठाई, तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढकर बोले—क्यों रे, तू अभी यहीं खड़ी है?

सुखिया ने थाली जमीन पर रख दी और एक हाथ फैलाकर भिक्षा-प्रार्थना करती हुई बोली—महाराजजी, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। यही बालक मेरे जीवन का अलम है, मुझ पर दया करो। तीन दिन से इसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा, महाराजजी!

यह कहते-कहते सुखिया रोने लगी। पुजारीजी दयालु तो थे, पर चमारिन को ठाकुरजी के समीप जाने देने का अश्रुतपूर्व घोर पातक वह कैसे कर सकते थे? न-जाने ठाकुरजी इसका क्या दण्ड दें। आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुरजी कुपित होकर गाँव का सर्वनाश कर दें, तो! बोले—घर जाकर भगवान् का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसीदल देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आँखों मे लगा दे। भगवान् चाहेंगे, तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया—ठाकुरजी के चरणों पर गिरने न दोगे, महाराजजी? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढकर पूजा की सामग्री जुटाई है। मैंने कल सपना देखा था महाराज, कि ठाकुरजी की पूजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आई हूँ। मेरे पास एक रुपया है। वह मुझसे ले लो, पर मुझे एक छन-भर ठाकुरजी के चरनों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पण्डितजी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया; किन्तु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन मे कुछ-कुछ बाकी था। सँभलकर बोले—

अरी पगली, ठाकुरजी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन पर गिरना देखते हैं। सुना नहीं है—'मन चङ्गा तो कठौती मे गङ्गा'। मन मे भक्ति न हो, तो लाख कोई भगवान् के चरनों पर गिरे, कुछ न होगा। मेरे पास एक जन्तर है। दाम तो उसका बहुत है; पर तुझे एक ही रुपये मे दे दूँगा। उसे बच्चे के गले में बाँध देना। बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया—तो ठाकुरजी की पूजा न करने दोगे?

पुजारी—तेरे लिए इतनी ही पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं हुई, वह आज मैं कर दूँ और गाँव पर कोई आफत-बिपत पड़े, तो क्या हो, इसे भी तो सोच! तू यह जन्तर ले जा, भगवान् चाहेंगे, तो रात ही भर मे बच्चे का क्लेश कट जायगा। किसी की डीठ पड़ गई है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता है, छत्तरी बस है।

सुखिया—जबसे इसे जर आया है, मेरे प्रान नहों में समाये हुए हैं।

पुजारी—बड़ा होनहार बालक है। भगवान् जिला दे, तो तेरे सारे सङ्कट हर लेगा। यहाँ तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो-तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया—तो जन्तर को कैसे बाँधूँगी, महाराज?

पुजारी—मैं कपडे मे बाँधकर देता हूँ। बस, गले मे पहना देना। अब तू इस बेला नवीन बस्तर कहाँ खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपये पर कडे गिरो रखे थे। एक पहले ही भँज चुका था। दूसरा पुजारीजी को भेंट किया और जन्तर लेकर मन को समझाती हुई घर लौट आई।

(५)

सुखिया ने घर पहुँचकर बालक के गले मे यन्त्र बाँध दिया, पर ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, उसका ज्वर भी बढता जाता था, यहाँ तक कि तीन बजते-बजते उसके हाथ-पाँव शीतल होने लगे। तब वह घबड़ा उठी और सोचने लगी—हाय! मैं व्यर्थ ही सङ्कोच मे पड़ी रही और बिना ठाकुरजी के दर्शन किये चली आई। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान् के चरणो पर गिर पड़ती, तो कोई मेरा क्या कर लेता? यही न होता, कि लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी, पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुरजी के चरणो को अपने आँसुओं से भिगो देती और बच्चे को उनके चरणों मे सुला देती, तो क्या उन्हें दया न आती?

वह तो दयामय भगवान् हैं, दीनों की रक्षा करते हैं, क्या मुझ पर दया न करेंगे? यह सोचकर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुरजी के चरणों पर गिरकर रोयेगी। उस अबला के आशंकित हृदय को अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आश्रय न था। मन्दिर के द्वार बन्द होंगे, तो वह ताले को तोड़ डालेगी। ठाकुरजी क्या किसी के हाथों बिक गये हैं कि कोई उन्हे बन्द कर रखे।

रात के तीन बज गये थे। सुखिया ने बालक को कम्मल से ढाँपकर गोद मे उठाया, एक हाथ में थाली उठाई और मन्दिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु के झोंको से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पाँव शिथिल हुए जाते थे। उस पर चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलाँग से कम न था। पगडण्डी वृक्षों के नीचे-नीचे गई थी। कुछ दूर दाहिनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरे मे एक धोबी मर गया था और बाँस की कोठियों मे चुड़ैलों का अड्डा था। बाईं ओर हरे-भरे खेत थे। चारो ओर सन-सन हो रहा था, अन्धकार सायँ-सायँ कर रहा था। सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुआँ-हुआँ करना शुरू किया। हाय! अगर कोई उसे एक लाख रुपये देता, तो भी इस समय वह यहाँ न आती; पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाये हुए थी। 'हे भगवान्! अब तुम्हारा ही आसरा है!' यही जपती वह मन्दिर की ओर चली जा रही थी।

मन्दिर के द्वार पर पहुँचकर सुखिया ने जञ्जीर टटोलकर देखी। ताला पड़ा हुआ था। पुजारीजी बरामदे से मिली हुई कोठरी मे किवाड़ बन्द किये सो रहे थे। चारो ओर अँधेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट उठा लाई और जोर-जोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गई थी। दो ही तीन चोटों मे ताला और ईंट दोनों टूटकर चौखट पर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अन्दर जाना ही चाहती थी कि पुजारी किवाड़ खोलकर हड़बड़ाये हुए बाहर निकल आये और 'चोर, चोर!' का गुल मचाते गाँव की ओर दौड़े। जाड़ों मे प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेनें लिये हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहाँ है, कहाँ है? किधर गया?

पुजारी—मन्दिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खट-खट की आवाज सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकलकर चबूतरे पर आई और बोली—चोर नहीं है, मैं हूँ, ठाकुरजी की पूजा करने आई थी। अभी तो अन्दर गई भी नही। मार हल्ला मचा दिया।

पुजारी ने कहा—अब अनर्थ हो गया। सुखिया मन्दिर में जाकर ठाकुरजी को भ्रष्ट कर आई।

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूँसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक एक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी जोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पडा; मगर वह न रोया, न बोला, न साँस ली। सुखिया भी गिर पड़ी थी। सँभलकर बच्चे को उठाने लगी, तो उसके मुख पर नजर पडी। ऐसा जान पड़ा, मानो पानी मे परछाईं हो। उसके मुँह से एक चीख निकल गई। बच्चे का माथा छूकर देखा। सारी देह ठण्ढी हो गई थी। एक लम्बी साँस खींचकर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आँखो मे आँसू न आये। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों से अगारे बरसने लगे। दोनो मुट्ठियाँ बँध गईं। दाँत पीसकर बोली—पापियो, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यो खडे हो? मुझे भी क्यो नही उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायँगे! मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुरजी को छूने नही आऊँगी। ताले मे बन्द करके रखो, पहरा बैठा दो। हाय, तुम्हे दया छू भी नहीं गई! तुम इतने कठोर हो! बाल-बच्चे-वाले होकर भी तुम्हें एक अभागिनी माता पर दया न आई! तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो! तुम सब-के-सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो। डरो मत, मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊँगी, मेरा न्याय भगवान् करेंगे, अब उन्हीं के दरबार मे फरियाद करूँगी।

किसी ने चूँ न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण-मूर्तियो की भाँति सब-के-सब सिर झुकाये खड़े रहे।

इतनी देर मे सारा गाँव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक

के मुँह की ओर देखा। मुँह से निकला—हाय मेरे लाल! फिर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गये। बच्चे के लिए प्राण दे दिये।

माता, तू धन्य है! तुझ-जैसी निष्ठा, तुझ-जैसी श्रद्धा, तुझ-जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!

— —

निमन्त्रण

पण्डित मोटेराम शास्त्री ने अन्दर जाकर अपने विशाल उदर पर हाथ फेरते हुए यह पद पञ्चम स्वर में गाया—

अजगर करे न चाकरी, पछी करे न काम,
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम !

सोना ने प्रफुल्लित होकर पूछा—कोई मीठी ताजी खबर है क्या ?

शास्त्रीजी ने पैतरे बदलकर कहा—मार लिया आज। ऐसा ताककर मारा कि चारों खाने चित्त। सारे घर का नेवता ! सारे घर का ! वह बढ-बढकर हाथ मारूँगा कि देखनेवाले दंग रह जायँगे। उदर महाराज अभी से अधीर हो रहे हैं।

सोना—कहीं पहले की भाँति अब की भी धोखा न हो। पक्का-पोढ़ा कर लिया है न ?

मोटेराम ने मूँछे ऐंठते हुए कहा—ऐसा असगुन मुँह से न निकालो। बड़े जप-तप के बाद यह शुभ दिन आया है। जो तैयारियाँ करनी हो, कर लो।

सोना—वह तो करूँगी ही। क्या इतना भी नहीं जानती ? जन्म-भर घास थोडे ही खोदती रही हूँ, मगर है घर-भर का न ?

मोटेराम—अब और कैसे कहूँ ? पूरे घर-भर का है। इसका अर्थ समझ में न आया हो तो मुझसे पूछो। विद्वानों की बात समझना सबका काम नहीं। अगर उनकी बात सभी समझ लें, तो उनकी विद्वत्ता का महत्त्व ही क्या रहे। बताओ क्या समझीं ? मैं इस समय बहुत ही सरल भाषा मे बोल रहा हूँ; मगर तुम नहीं समझ सकीं। बताओ, 'विद्वत्ता' किसे कहते हैं ? 'महत्त्व' ही का अर्थ बताओ। घर-भर का निमन्त्रण देना क्या दिल्लगी है ! हाँ, ऐसे अवसर पर विद्वान् लोग राजनीति से काम लेते हैं और उसका वही आशय निकालते हैं, जो अपने अनुकूल हो। मुरादपुर की रानी साहब सात ब्राह्मणों को इच्छापूर्ण भोजन कराना चाहती हैं। कौन-कौन महाशय मेरे साथ जायँगे, यह निर्णय करना मेरा काम है। अलगू-

राम शास्त्री, बेनीराम शास्त्री, छेदीराम शास्त्री, भवानीराम शास्त्री, फेकूराम शास्त्री, मोटेराम शास्त्री आदि जब इतने आदमी अपने घर ही मे है, तब बाहर कौन ब्राह्मणो को खोजने जाय।

सोना—और सातवाँ कौन है?

मोटे०—बुद्धि को दौड़ाओ।

सोना—एक पत्तल घर लेते आना।

मोटे०—फिर वही बात कही जिसमें बदनामी हो। छि-छि, पत्तल घर लाऊँ। उस पत्तल मे वह स्वाद कहाँ, जो यजमान के घर बैठकर भोजन करने मे है। सुनो, सातवें महाशय हैं—पण्डित सोनाराम शास्त्री।

सोना—चलो, दिल्लगी करते हो। भला, मैं कैसे जाऊँगी?

मोटे०—ऐसे ही कठिन अवसरों पर तो विद्या की आवश्यकता पड़ती है। विद्वान् आदमी अवसर को अपना सेवक बना लेता है, मूर्ख अपने भाग्य को रोता है। सोना देवी और सोनाराम शास्त्री मे क्या अन्तर है, जानती हो? केवल परिधान का। परिधान का अर्थ समझती हो? परिधान 'पहनाव' को कहते हैं। इसी साड़ी को मेरी तरह बाँध लो, मेरी मिरज़ई पहन लो, ऊपर से चादर ओढ लो। पगड़ी मैं बाँध दूँगा। फिर कौन पहचान सकता है?

सोना ने हँसकर कहा—मुझे तो लाज लगेगी।

मोटे०—तुम्हे करना ही क्या है? बातें तो हम करेंगे।

सोना ने मन-ही-मन आनेवाले पदार्थो का आनन्द लेकर कहा—बड़ा मजा होगा!

मोटे०—बस, अब विलम्ब न करो। तैयारी करो, चलो।

सोना—कितनी फंकी बना लूँ?

मोटे०—यह मैं नहीं जानता। बस, यही आदर्श सामने रखो कि अधिक-से-अधिक लाभ हो।

सहसा सोना देवी को एक बात याद आ गई। बोली—अच्छा, इन बिछुओं को क्या करूँगी?

मोटेराम ने त्योरी चढाकर कहा—इन्हें उठाकर रख देना, और क्या करोगी?

सोना—हाँ जी, क्यो नहीं। उतारकर रख क्यों न दूँगी!

मोटेराम ने फेकूराम को बोलने का अवसर न दिया। डरे कि यह तो सारा भडा फोड देगा। बोले—यह अभी क्या पढेगा। दिन-भर खेलता है। फेकूराम इतना बड़ा अपराध अपने नन्हे-से सिर पर क्यों लेता। बाल-सुलभ गर्व से बोला—हमको तो याद है, पण्डित सेतूराम पाठक। हम पाठ भी याद कर लें, तिस पर भी कहते हैं, हरदम खेलता है?

यह कहते हुए फेकूराम ने रोना शुरू किया।

चिन्तामणि ने बालक को गले लगा लिया और बोले—नहीं बेटा, तुमने अपना पाठ सुना दिया है। तुम खूब पढते हो। यह सेतूराम पाठक कौन हैं, बेटा! मोटेराम ने बिगडकर कहा—तुम भी लड़कों की बातों मे आते हो। सुन लिया होगा किसी का नाम। (फेकू से) जा बाहर खेल।

चिन्तामणि अपने मित्र की घबराहट देखकर समझ गये कि कोई-न-कोई रहस्य अवश्य है। बहुत दिमाग़ लडाने पर भी सेतूराम पाठक का आशय उनकी समझ मे न आया। अपने परम मित्र की इस कुटिलता पर मन में दुखित होकर बोले—अच्छा, आप पाठ पढाइए और परीक्षा लीजिए। मैं जाता हूँ। तुम इतने स्वार्थी हो, इसका मुझे गुमान तक न था। आज तुम्हारी मित्रता की परीक्षा हो गई।

पण्डित चिन्तामणि बाहर चले गये। मोटेरामजी के पास उन्हे मनाने के लिए समय न था। फिर परीक्षा लेने लगे।

सोना ने कहा—मना लो, मना लो। रूठे जाते हैं। परीक्षा फिर ले लेना।

मोटे०—जब कोई काम पड़ेगा, मना लूँगा। निमन्त्रण की सूचना पाते ही इनका सारा क्रोध शान्त हो जायगा। हाँ भवानी, तुम्हारे पिता का क्या नाम है, बोलो?

भवानी—गंगू पाँडे।

मोटे०—और तुम्हारे पिता का नाम फेकू?

फेकू—बता तो दिया, उस पर कहते हैं, पढता नहीं?

मोटे०—हमें भी बता दो।

फेकू—सेतूराम पाठक तो है?

मोटे०—बहुत ठीक, हमारा लड़का बडा राजा है। आज तुम्हे अपने साथ बैठायेंगे और सबसे अच्छा माल तुम्हीं को खिलायेंगे।

सोना—हमें भी तो कोई नाम बता दो।

मोटेराम ने रसिकता से मुसकराकर कहा—तुम्हारा नाम है पण्डित मोहन-सरूप सुकुल।

सोनादेवी ने लजाकर सिर झुका लिया।

(३)

सोनादेवी तो लड़कों को कपड़े पहनाने लगीं। उधर फेकू आनन्द की उमग में घर से बाहर निकला। पण्डित चिन्तामणि रूठकर तो चले थे; पर कुतूहलवश अभी तक द्वार पर दबके खड़े थे। जिन बातों की भनक इतनी देर मे उनके कानों मे पड़ी, उससे यह तो ज्ञात हो गया कि कहीं निमन्त्रण है, पर कहाँ है, कौन-कौनसे लोग निमन्त्रित हैं, यह कुछ ज्ञात न हुआ था। इतनेमें फेकू बाहर निकला, तो उन्होंने उसे गोद मे उठा लिया और बोले—कहाँ नेवता है, बेटा?

अपनी जान में तो उन्होंने बहुत धीरे से पूछा था, पर न-जाने कैसे पण्डित मोटेराम के कान मे भनक पड़ गई। तुरन्त बाहर निकल आये। देखा, तो चिन्ता-मणिजी फेकू को गोद मे लिये कुछ पूछ रहे हैं। लपककर लड़के का हाथ पकड़ लिया और चाहा कि उसे अपने मित्र की गोद से छीन लें, मगर चिन्तामणिजी को अभी अपने प्रश्न का उत्तर न मिला था। अतएव वे लड़के का हाथ छुडाकर उसे लिये हुए अपने घर की ओर भागे। मोटेराम भी यह कहते हुए उनके पीछे दौड़े—उसे क्यों लिये जाते हो? धूर्त कहीं का, दुष्ट! चिन्तामणि, मैं कहे देता हूँ, इसका नतीजा अच्छा न होगा, फिर कभी किसी निमन्त्रण में न ले जाऊँगा। भला चाहते हो, तो उसे उतार दो..। मगर चिन्तामणि ने एक न सुनी। भागते ही चले गये। उनकी देह अभी सँभाल के बाहर न हुई थी, दौड़ सकते थे, मगर मोटेरामजी को एक-एक पग आगे बढना दुस्तर हो रहा था। भैंसे की भाँति हाँफते थे और नाना प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते दुलकी चाल से चले जाते थे। और यद्यपि प्रतिक्षण अन्तर बढता जाता था, पर पीछा न छोड़ते थे। अच्छी घुड़दौड़ की। नगर के दो महात्मा दौड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो गैंडे चिड़िया-घर से भाग आये हों। सैकड़ों आदमी तमाशा देखने लगे। कितने ही बालक उनके पीछे तालियाँ बजाते हुए दौड़े। कदाचित् यह दौड़ पण्डित चिन्तामणि के घर ही पर समाप्त होती; पर पण्डित मोटेराम धोती के ढीली हो जाने के कारण उलझकर गिर पड़े। चिन्तामणि ने पीछे

फिरकर यह दृश्य देखा, तो रुक गये और फेकूराम से पूछा—क्यों बेटा, कहाँ नेवता है ?

फेकू—बता दें, तो हमें मिठाई दोगे न ?

चिन्ता०—हाँ, दूँगा, बताओ ।

फेकू—रानी के यहाँ ।

चिन्ता०—कहाँ की रानी ?

फेकू—यह मैं नहीं जानता । कोई बड़ी रानी हैं ।

नगर मे कई बड़ी-बड़ी रानियाँ थी । पण्डितजी ने सोचा, सभी रानियो के द्वार पर चक्कर लगाऊँगा । जहाँ भोज होगा, वहाँ कुछ भीडभाड होगी ही, पता चल जायगा । वह निश्चय करके वे लौट पडे । सहानुभूति प्रकट करने मे अब कोई बाधा न थी । मोटेरामजी के पास आये, तो देखा कि वे पडे कराह रहे है । उठने का नाम नही लेते । घबराकर पूछा—गिर कैसे पड़े मित्र, यहाँ कहीं गढा भी तो नहीं है !

मोटे०—तुमसे क्या मतलब ! तुम लड़के को ले जाओ, जो कुछ पूछना चाहो, पूछो ।

चिन्ता०—मैं यह कपट-व्यवहार नहीं करता । दिल्लगी की थी, तुम बुरा मान गये । ले उठ तो, बैठो राम का नाम लेके । मैं सच कहता हूँ, मैंने कुछ नहीं पूछा ।

मोटे०—चल झूठा !

चिन्ता०—जनेऊ हाथ मे लेकर कहता हूँ ।

मोटे०—तुम्हारी शपथ का विश्वास नहीं ।

चिन्ता०—तुम मुझे इतना धूर्त समझते हो ?

मोटे०—इससे कहीं अधिक । तुम गगा मे डूबकर शपथ खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आये ।

चिन्ता०—दूसरा यह बात कहता, तो मूँछ उखाड़ लेता ।

मोटे०—तो फिर आ जाओ !

चिन्ता०—पहले पण्डिताइन से पूछ आओ ।

मोटेराम यह भस्मक व्यंग्य न सह सके । चट उठ बैठे और पण्डित चिन्तामणि

का हाथ पकड़ लिया। दोनों मित्रों मे मल्ल-युद्ध होने लगा। दोनों हनुमानजी की स्तुति कर रहे थे और इतने जोर से गरज-गरजकर मानो सिंह दहाड़ रहे हों। बस ऐसा जान पड़ता था मानो दो पीपे आपस में टकरा रहे हो।

मोटे०—महाबली विक्रम बजरंगी।

चिन्ता०—भूत-पिशाच निकट नहिं आवे।

मोटे०—जय-जय-जय हनुमान गुसाईं।

चिन्ता०—प्रभु, रखिए लाज हमारी।

मोटे० (बिगड़कर) यह हनुमान-चालीसा मे नहीं है।

चिन्ता०—यह हमने स्वयं रचा है। क्या तुम्हारी तरह की यह रटन्त विद्या है। जितना कहो उतना रच दें?

मोटे० अबे, हम रचने पर आ जायँ तो एक दिन मे एक लाख स्तुतियाँ रच डालें, किन्तु इतना अवकाश किसे है।

दोनों महात्मा अलग खड़े होकर अपने-अपने रचना-कौशल की डींगें मार रहे थे। मल्ल-युद्ध शास्त्रार्थ का रूप धारण करने लगा, जो विद्वानों के लिए उचित है। इतने मे किसी ने चिन्तामणिजी के घर जाकर कह दिया कि पण्डित मोटेराम और चिन्तामणिजी मे बड़ी लड़ाई हो रही है। चिन्तामणिजी तीन महिलाओं के स्वामी थे। कुलीन ब्राह्मण थे, पूरे बीस बिस्वे। उस पर विद्वान् भी उच्चकोटि के, दूर-दूर तक यजमानी थी। ऐसे पुरुषों को सब अधिकार है। कन्या के साथ-साथ जब प्रचुर दक्षिणा भी मिलती हो, तब कैसे इनकार किया जाय। इन तीनों महिलाओं का सारे महल्ले मे आतंक छाया हुआ था। पण्डितजी ने उनके नाम बहुत ही रसीले रखे थे। बडी स्त्री को 'अमिरती', मँझली को 'गुलाबजामुन' और छोटी को मोहन-भोग कहते थे, पर मुहल्लेवालों के लिए तीनों महिलाएँ त्रयताप से कम न थीं। घर मे नित्य आँसुओं की नदी बहती रहती—खून की नदी तो पण्डितजी ने भी कभी नहीं बहाई, अधिक-से-अधिक शब्दों की ही नदी बहाई थी, पर मजाल न थी कि बाहर का आदमी किसी को कुछ कह जाय। संकट के समय तीनों एक हो जाती थीं। यह पण्डितजी के नीति-चातुर्य का सुफल था। ज्योंही खबर मिली कि पण्डित चिन्तामणि पर संकट पड़ा हुआ है, तीनों त्रिदोषों की भाँति कुपित होकर घर से निकलीं और उनमे जो अन्य दोनों-जैसी मोटी नहीं थी, सबसे पहले समर भूमि के

समीप जा पहुँची। पण्डित मोटेरामजी ने उसे आते देखा, तो समझ गये कि अब कुशल नहीं। अपना हाथ छुड़ाकर बगटुट भागे, पीछे फिरकर भी न देखा। चिन्तामणिजी ने बहुत ललकारा ; पर मोटेराम के क़दम न रुके।

चिन्ता०--अजी भागे क्यों, ठहरो, कुछ मजा तो चखते जाओ !

मोटे०--मैं हार गया भाई, हार गया।

चिन्ता०—अजी, कुछ दक्षिणा तो लेते जाओ।

मोटेराम ने भागते हुए कहा—दया करो, भाई, दया करो।

(४)

आठ बजते-बजते पण्डित मोटेराम ने स्नान और पूजा करके कहा - अब विलम्ब नहीं करना चाहिए, फकी तैयार है न ?

सोना—फकी लिये तो कबसे बैठी हूँ, तुम्हे तो जैसे किसी बात की सुध ही नहीं रहती। रात को कौन देखता है कि कितनी देर पूजा करते हो।

मोटे०—मैं तुमसे एक नहीं, हजार बार कह चुका कि मेरे कामों मे मत बोला करो। तुम नहीं समझ सकतीं कि मैंने इतना विलम्ब क्यों किया। तुम्हे ईश्वर ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी। जल्दी जाने से अपमान होता है। यजमान समझता है, लोभी है, भुक्खड है। इसी लिए चतुर लोग विलम्ब किया करते हैं, जिसमे यजमान समझे कि पण्डितजी को इसकी सुध ही नहीं है, भूल गये होगे। बुलाने को आदमी भेजे। इस प्रकार जाने मे जो मान-महत्त्व है, वह मरभुखों की तरह जाने मे क्या कभी हो सकता है ? मैं बुलावे की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कोई-न-कोई आता ही होगा। लाओ थोड़ी फकी। बालकों को खिला दी है न ?

सोना—उन्हे तो मैंने साँझ ही को खिला दी थी।

मोटे०—कोई सोया तो नहीं ?

सोना—आज भला कौन सोयेगा ? सब भूख-भूख चिल्ला रहे थे, तो मैंने एक पैसे का चबेना मँगवा दिया। सब-के-सब ऊपर बैठे खा रहे हैं। सुनते नहीं हो, मार-पीट हो रही है।

मोटेराम ने दाँत पीसकर कहा--जी चाहता है कि तुम्हारी गरदन पकड़कर ऐंठ दूँ। भला, इस बेला चबेना मगाने का क्या काम था ? चबेना खा लेंगे, तो वहाँ क्या तुम्हारा सिर खायेंगे। छि ! छि !! जरा भी बुद्धि नही !

सोना ने अपराध स्वीकार करते हुए कहा--हाँ, भूल तो हुई, पर सब-के-सब इतना कोलाहल मचाये हुए थे कि सुना नहीं जाता था।

मोटे०—रोते ही थे न, रोने देती। रोने से उनका पेट न भरता, बल्कि और भूख खुल जाती।

सहसा एक आदमी ने बाहर से आवाज़ दी—पण्डितजी, महारानी बुला रही हैं, और लोगों को लेकर जल्दी चलो।

पण्डितजी ने पत्नी की ओर गर्व से देखकर कहा—देखा, इसे निमन्त्रण कहते हैं। अब तैयारी करनी चाहिए।

बाहर आकर पण्डितजी ने उस आदमी से कहा--तुम एक क्षण और न आते, तो मैं कथा सुनाने चला गया होता। मुझे बिलकुल याद न थी। चलो, हम बहुत शीघ्र आते हैं।

(५)

नौ बजते-बजते पण्डित मोटेराम बाल-गोपाल-सहित रानी साहब के द्वार पर जा पहुँचे। रानी बड़ी विशालकाय तेजस्विनी महिला थीं। इस समय वे कारचोबीदार तकिया लगाये तख़्त पर बैठी हुई थीं। दो आदमी हाथ बाँधे पीछे खड़े थे। बिजली का पखा चल रहा था। पण्डितजी को देखते ही रानी ने तख़्त से उठकर चरण-स्पर्श किया, और इस बालक-मण्डली को देखकर मुसकराती हुई बोली-- इन बच्चों को आप कहाँ से पकड़ लाये?

मोटे०--करता क्या, सारा नगर छान मारा, पर किसी पण्डित ने आना स्वीकार न किया। कोई किसी के यहाँ निमन्त्रित है, कोई किसी के यहाँ। तब तो मैं बहुत चकराया। अन्त मे मैंने उनसे कहा--अच्छा, आप नहीं चलते तो हरि-इच्छा, लेकिन ऐसा कीजिए कि मुझे लज्जित न होना पड़े। तब जबरदस्ती प्रत्येक के घर से जो बालक मिला, उसे पकड़ लाना पड़ा। क्यों फेकूराम, तुम्हारे पिताजी का क्या नाम है?

फेकूराम ने गर्व से कहा—पण्डित सेतूराम पाठक।

रानी—बालक तो बड़ा होनहार है।

और बालकों को भी उत्कठा हो रही थी कि हमारी परीक्षा भी ली जाय, लेकिन जब पण्डितजी ने उनसे कोई प्रश्न न किया, उधर रानी ने फेकूराम की प्रशसा कर दी, तब तो वे अधीर हो उठे। भवानी बोला--मेरे पिता का नाम है पण्डित गंगू पाँड़े।

छेदी बोला--मेरे पिता का नाम है दमड़ी तिवारी ।

बेनीराम ने कहा--मेरे पिता का नाम है पण्डित मॅंगरू ओझा ।

अलगूराम समझदार था । चुपचाप खड़ा रहा । रानी ने उससे पूछा तुम्हारे पिता का क्या नाम है, जी ?

अलगूराम को इस वक्त पिता का निर्दिष्ट नाम याद न आया । न यही सूझी कि कोई और नाम ले ले । हतबुद्धि-सा खड़ा रहा । पण्डित मोटेराम ने जब उसकी ओर दाँत पीसकर देखा, तब रहा-सहा हवास भी गायब हो गया ।

फेकू ने कहा—हम बता दें । भैया भूल गये ।

रानी ने आश्चर्य से पूछा— क्या अपने पिता का नाम भूल गया ? यह तो विचित्र बात देखी ।

मोटेराम ने अलगू के पास जाकर कहा - केसे है । अलगूराम बोल उठा—केशव पाँडे ।

रानी — तो अब तक क्यो चुप था ?

मोटे०—कुछ ऊँचा सुनता है, सरकार ?

रानी—मैंने सामान तो बहुत-सा मॅंगवा रखा है । सब खराब होगा । लड़के क्या खायॅंगे !

मोटे०—सरकार इन्हें बालक न समझें । इनमे जो सबसे छोटा है, वह दो पत्तल खाकर उठेगा ।

(६)

जब सामने पत्तलें पड गई और भण्डारी चॉदी की थालों मे एक-से-एक उत्तम पदार्थ ला-लाकर परसने लगा, तब पण्डित मोटेरामजी की आँखें खुल गईं । उन्हे आये-दिन निमन्त्रण मिलते रहते थे । पर ऐसे अनुपम पदार्थ कभी सामने न आये थे । घी की ऐसी सोंधी सुगन्ध उन्हे कभी न मिली थी । प्रत्येक वस्तु से केवडे और गुलाब की लपटें उड़ रही थीं, घी टपक रहा था । पण्डितजी ने सोचा—ऐसे पदार्थों से कभो पेट भर सकता है ! मनो खा जाऊॅं, फिर भी और खाने को जी चाहे । देवतागण इनसे उत्तम और कौने-से पदार्थ खाते होंगे ? इनसे उत्तम पदार्थों की तो कल्पना भी नहीं हो सकती ।

पण्डितजी को इस वक्त अपने परममित्र पण्डित चिन्तामणि की याद आई ।

अगर वे होते, तो रंग जम जाता। उनके बिना रंग फीका रहेगा। यहाँ दूसरा कौन है, जिससे लाग-डाट करूँ। लड़के दो दो पत्तलों में चें बोल जायँगे। सोना कुछ साथ देगी, मगर कब तक! चिन्तामणि के बिना रंग न गठेगा। वे मुझे ललकारेंगे, मैं उन्हें ललकारूँगा। उस उमंग में पत्तलों को कौन गिनती। हमारी देखा-देखी लड़के भी डट जायँगे। ओह, बड़ी भूल हो गई। यह खयाल मुझे पहले न आया। रानी साहब से कहूँ, बुरा तो न मानेंगी। उँह! जो कुछ हो, एक बार ज़ोर तो लगाना ही चाहिए। तुरन्त खड़े होकर रानी साहब से बोले--सरकार! आज्ञा हो, तो कुछ कहूँ।

रानी--कहिए, कहिए महाराज, क्या किसी वस्तु की कमी है?

मोटे०--नहीं सरकार, किसी बात की नहीं। ऐसे उत्तम पदार्थ तो मैंने कभी देखे भी न थे। सारे नगर में आपकी कीर्ति फैल जायगी। मेरे एक परम मित्र पण्डित चिन्तामणिजी हैं, आज्ञा हो तो उन्हें भी बुला लूँ। बड़े विद्वान् कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं। उनके जोड़ का इस नगर में दूसरा नहीं है। मैं उन्हें निमन्त्रण देना भूल गया। अभी सुध आई है।

रानी--आपकी इच्छा हो, तो बुला लीजिए, मगर जाने-आने में देर होगी और भोजन परोस दिया गया है।

मोटे०--मैं अभी आता हूँ सरकार, दौड़ता हुआ जाऊँगा।

रानी--मेरी मोटर ले लीजिये।

जब पण्डितजी चलने को तैयार हुए, तब सोना ने कहा--तुम्हें आज क्या हो गया है जी! उसे क्यों बुला रहे हो?

मोटे०--कोई साथ देनेवाला भी तो चाहिए?

सोना--मैं क्या तुमसे दब जाती?

पण्डितजी ने मुस्कराकर कहा--तुम जानती नहीं, घर की बात और है; दङ्गल की बात और। पुराना खिलाड़ी मैदान में जाकर जितना नाम करेगा, उतना नया पट्ठा नहीं कर सकता। वहाँ बल का काम नहीं, साहस का काम है। बस, यहाँ भी वही हाल समझो। आज झण्डे गाड़ दूँगा। समझ लेना।

सोना--कहीं लड़के सो जायँ तो?

मोटे०--और भूख खुल जायगी। जगा तो मैं लूँगा।

सोना—देख लेना, आज वह तुम्हें पछाड़ेगा। उसके पेट में तो शनीचर है।

मोटे०—बुद्धि की सर्वत्र प्रधानता रहती है। यह न समझो कि भोजन करने की कोई विद्या ही नहीं। इसका भी एक शास्त्र है, जिसे मथुरा के शनीचरानन्द महाराज ने रचा है। चतुर आदमी थोड़ी-सी जगह में गृहस्थी का सब सामान रख देता है। अनाड़ी बहुत-सी जगह में भी यही सोचता रहता है कि कौन वस्तु कहाँ रखूँ। गँवार आदमी पहले से ही हबक-हबककर खाने लगता है और चट एक लोटा पानी पीकर अफर जाता है। चतुर आदमी बड़ी सावधानी से खाता है, उसको कौर नीचे उतारने के लिए पानी की आवश्यकता नहीं पड़ती। देर तक भोजन करते रहने से वह सुपाच्य भी हो जाता है। चिन्तामणि मेरे सामने क्या ठहरेगा!'

(७)

चिन्तामणिजी अपने आँगन में उदास बैठे हुए थे। जिस प्राणी को वह अपना परमहितैपी समझते थे, जिसके लिए वे अपने प्राण तक देने को तैयार रहते थे, उसी ने आज उनके साथ बेवफाई की। बेवफाई ही नहीं की, उन्हे उठाकर दे मारा। पण्डित मोटेराम के घर से तो कुछ जाता न था। अगर वे चिन्तामणिजी को भी साथ लेते जाते, तो क्या रानी साहब उन्हे दुत्कार देतीं। स्वार्थ के आगे कौन किसको पूछता है! उन अमूल्य पदार्थों की कल्पना करके चिन्तामणि के मुँह से लार टपकी पड़ती थी। अब सामने पत्तल आ गई होगी! अब थालों में अमिरतियाँ लिये भण्डारीजी आये होंगे! ओहो, कितनी सुन्दर, कोमल, कुरकुरी, रसीली, अमिरतियाँ होंगी! अब बेसन के लड्डू आये होंगे। ओहो, कितने सुडौल, मेवों से भरे हुए, घी से तरातर लड्डू होंगे। मुँह में रखते-ही-रखते घुल जाते होंगे, जीभ भी न डुलानी पड़ती होगी। अहा! अब मोहन-भोग आया होगा! हाय रे दुर्भाग्य! मैं यहाँ पड़ा सड़ रहा हूँ और वहाँ यह बहार! बड़े निर्दयी हो मोटेराम, तुमसे इस निष्ठुरता की आशा न थी।

अमिरतीदेवी बोलीं—तुम इतना दिल क्यो छोटा करते हो। पितृपक्ष तो आ ही रहा है, ऐसे-ऐसे न-जाने कितने नेवते आयेंगे।

चिन्तामणि—आज किसी अभागे का मुँह देखकर उठा था। लाओ तो पत्रा, देखूँ, कैसा मुहूर्त है। अब नहीं रहा जाता। सारा नगर छान डालूँगा, कहीं तो पता चलेगा, नासिका तो दहनी चल रही है।

एकाएक मोटर की आवाज आई। उसके प्रकाश से पण्डितजी का सारा घर जगमगा उठा। वे खिड़की से झाँकने लगे, तो मोटेराम को मोटर से उतरते देखा। एक लम्बी साँस लेकर चारपाई पर गिर पड़े। मन मे कहा कि दुष्ट भोजन करके अब यहाँ मुझसे बखान करने आया है?

अमिरतीदेवी ने पूछा—कौन है डाढीजार, इतनी रात को जगावत है!

मोटे०—हम है हम! गाली न दो।

अमिरती—अरे दुर मुँहझौंसे, तै कौन है! कहते हैं हम है हम! को जाने तै कौन हस?

मोटे०—अरे हमारी बोली नहीं पहचानती हो। खूब पहचान लो। हम है, तुम्हारे देवर।

अमिरती - ऐ दुर, तोरे मुँह मे का लागे। तोर लहास उठे। हमार देवर बनत है, डाढीजार।

मोटे०—अरे, हम है मोटेराम शास्त्री। क्या इतना भी नहीं पहचानतीं! चिन्तामणिजी घर मे हैं?

अमिरती ने किवाड़ खोल दिया और तिरस्कार-भाव से बोली—अरे तुम थे! तो नाम क्यों नहीं बताते थे? जब इतनी गालियाँ खा लीं, तो बोल निकला। क्या है, क्या?

मोटे०—कुछ नहीं, चिन्तामणिजी को शुभ-सवाद देने आया हूँ। रानी साहब ने उन्हे याद किया है।

अमिरती—भोजन के बाद बुलाकर क्या करेंगी?

मोटे०—अभी भोजन कहाँ हुआ है! मैंने जब इनकी विद्या, कर्मनिष्ठा, सद्विचार की प्रशसा की, तब मुग्ध हो गई। मुझसे कहा कि उन्हे मोटर पर लाओ। क्या सो गये?

चिन्तामणि चारपाई पर पड़े-पडे सुन रहे थे। जी मे आता था, चलकर मोटेराम के चरणों पर गिर पड़ूँ। उनके विषय मे अब तक जितने कुत्सित विचार उठे थे, सब लुप्त हो गये। ग्लानि का आविर्भाव हुआ। रोने लगे।

'अरे भाई, आते हो या सोते ही रहोगे!'—यह कहते हुए मोटेराम उनके सामने जाकर खड़े हो गये।

चिन्ता०—तब क्यों न ले गये ? जब इतनी दुर्दशा कर लिये, तब आये। अभी तक पीठ में दर्द हो रहा है।

मोटे०—अजी, वह तर माल खिलाऊँगा कि सारा दर्द-वर्द भाग जायगा। तुम्हारे यजमानों को भी ऐसे पदार्थ मयस्सर न हुए होंगे। आज तुम्हें बदकर पछाड़ूँगा।

चिन्ता०—तुम बेचारे मुझे क्या पछाड़ोगे। सारे शहर में तो कोई ऐसा माई का लाल दिखाई नहीं देता। हमें शनीचर का इष्ट है।

मोटे०—अजी, यहाँ बरसों तपस्या की है। भंडारे का भंडारा साफ कर दें और इच्छा ज्यों-की-त्यों बनी रहे। बस, यही समझ लो कि भोजन करके हम खड़े नहीं हो सकते। चलना तो दूसरी बात है। गाड़ी पर लदकर आते हैं।

चिन्ता०—तो यह कौन बड़ी बात है। यहाँ तो टिकठी पर उठाकर लाये जाते हैं। ऐसी-ऐसी डकारें लेते हैं कि जान पड़ता है, बम-गोला छूट रहा है। एक बार खोफिया पुलिस ने बम-गोले के सन्देह में घर की तलाशी तक ली थी।

मोटे०—झूठ बोलते हो। कोई इस तरह नहीं डकार सकता।

चिन्ता०—अच्छा, तो आकर सुन लेना। डरकर भाग न जाओ, तो सही।

एक क्षण में दोनों मित्र मोटर पर बैठे और मोटर चली।

(८)

रास्ते में पण्डित चिन्तामणि को शंका हुई कि कहीं ऐसा न हो कि मैं पण्डित मोटेराम का पिछलग्गू समझा जाऊँ और मेरा यथेष्ट सम्मान न हो। उधर पण्डित मोटेराम को भी भय हुआ कि कहीं ये महाशय मेरे प्रतिद्वन्द्वी न बन जायँ और रानी साहब पर अपना रङ्ग जमा लें।

दोनों अपने-अपने मसूबे बाँधने लगे। ज्योंही मोटर रानी के भवन में पहुँची, दोनों महाशय उतरे। अब मोटेराम चाहते थे कि पहले मैं रानी के पास पहुँच जाऊँ और कह दूँ कि पण्डित को ले आया, और चिन्तामणि चाहते थे कि पहले मैं रानी के सम्मुख जा पहुँचूँ और अपना रङ्ग जमा दूँ। दोनों कदम बढ़ाने लगे। चिन्तामणि हल्के होने के कारण जरा आगे बढ़ गये, तो पण्डित मोटेराम दौड़ने लगे। चिन्तामणि भी दौड़ पड़े। घुड़दौड़-सी होने लगी। मालूम होता था कि दो गैंडे भागे जा रहे हैं। अन्त को मोटेराम ने हाँफते हुए कहा—राजसभा में दौड़ते हुए जाना उचित नहीं।

चिन्ता०—तो तुम धीरे-धीरे आओ न, दौडने को कौन कहता है।

मोटे०—जरा रुक जाओ, मेरे पैर मे कांटा गड गया है।

चिन्ता० – तो निकाल लो, तब तक मैं चलता हूँ।

मोटे०—मै न कहता, तो रानी तुम्हे पूछती भी न !

मोटेराम ने बहुत बहाने किये, पर चिन्तामणि ने एक न सुना। भवन मे पहुँचे। रानी साहब बैठी कुछ लिख रही थीं और रह-रहकर द्वार की ओर ताक लेती थी कि सहसा पण्डित चिन्तामणि उनके सामने आ खडे हुए और यो स्तुति करने लगे—

'हे हे यशोदे तू बालकेशव, मुरारनामा'

रानी—क्या मतलब है ! अपना मतलब कहो ?

चिन्ता०—सरकार को आशीर्वाद देता हूं। सरकार ने इस दास चिन्तामणि को निमन्त्रित करके जितना अनुग्रसित (अनुगृहीत) किया है, उसका बखान शेषनाग अपनी सहस्र जिभ्याद्वारा भी नही कर सकते।

रानी—तुम्हारा ही नाम चिन्तामणि है ! वे कहाँ रह गये पण्डित मोटेराम शास्त्री ?

चिन्ता० – पीछे आ रहा है, सरकार, मेरे बराबर आ सकता है, भला ! मेरा तो शिष्य है।

रानी—अच्छा, तो वे आपके शिष्य है !

चिन्ता०—मै अपने मुँह से अपनी बड़ाई नहीं करना चाहता, सरकार ! विद्वानों को नम्र होना चाहिए, पर जो यथार्थ है, वह तो ससार जानता है। सरकार, मैं किसी से वाद-विवाद नहीं करता, यह मेरा अनुशीलन (अभीष्ट) नहीं। मेरे शिष्य भी बहुधा मेरे गुरु बन जाते हैं, पर मैं किसी से कुछ नहीं कहता। जो सत्य है, वह सभी जानते हैं।

इतने मे पण्डित मोटेराम भी गिरते-पडते हाँफते हुए आ पहुँचे और यह देखकर कि चिन्तामणि भद्रता और सभ्यता की मूर्ति बने खडे है, वे देवोपम शान्ति के साथ खड़े हो गये।

रानी—पण्डित चिन्तामणि बडे साधु-प्रकृति विद्वान् हैं। आप उनके शिष्य हैं, फिर भी वे आपको अपना शिष्य नहीं कहते।

मोटे०— सरकार, मैं इनका दासानुदास हूँ।

चिन्ता०—जगतारिणी, मैं इनका चरण-रज हूँ।

मोटे०— रिपुदलसंहारिणीजी, मैं इनके द्वार का कूकर हूँ।

रानी—आप दोनों सज्जन पूज्य हैं। एक-से-एक बढ़े हुए। चलिए, भोजन कीजिए।

(९)

सोनारानी बैठी पण्डित मोटेराम की राह देख रही थी। पति की इस मित्र-भक्ति पर उन्हें बड़ा क्रोध आ रहा था। बड़े लड़कों के विषय मे तो कोई चिन्ता न थी, लेकिन छोटे बच्चों के सो जाने का भय था। उन्हे किस्से-कहानियाँ सुना-सुनाकर बहला रही थीं कि भडारी ने आकर कहा—महाराज चलो। दोनों पण्डितजी आसन पर बैठ गये। फिर क्या था, बच्चे कूद-कूदकर भोजनशाला मे जा पहुँचे। देखा, तो दोनों पण्डित दो वीरों की भाँति आमने-सामने डटे बैठे हैं। दोनों अपना-अपना पुरुषार्थ दिखाने के लिए अधीर हो रहे थे।

चिन्ता०—भडारीजी, तुम परोसने मे बड़ा विलम्ब करते हो। क्या भीतर जाकर सोने लगते हो?

भडारी—चुपाई मारे बैठे रहो, जौन कुछ होई, सब आय जाई। घबडाये का नहीं होत। तुम्हारे सिवाय और कोई जिवैया नहीं बैठा है।

मोटे०—भैया, भोजन करने के पहले कुछ देर सुगन्ध का स्वाद तो लो।

चिन्ता०—अजी सुगन्ध गया चूल्हे में, सुगन्ध देवता लोग लेते है। अपने लोग तो भोजन करते हैं।

मोटे०—अच्छा बताओ, पहले किस चीज पर हाथ फेरोगे?

चिन्ता० –मै जाता हूँ, भीतर से सब चीजें एक साथ लिये आता हूँ।

मोटे०—धीरज धरो भैया, सब पदार्थों को आ जाने दो। ठाकुरजी का भोग तो लग जाय।

चिन्ता०—तो बैठे क्यों हो, तब तक भोग ही लगाओ। एक बाधा तो मिटे। नहीं, लाओ मै चटपट भोग लगा दूँ। व्यर्थ देर करोगे।

इतने मे रानी आ गईं। चिन्तामणि सावधान हो गये। रामायण की चौपाइयों का पाठ करने लगे—

'रहा एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कौशलेश दशरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन आये॥
उलटि पलटि लङ्का कपि जारी। कूद परा तब सिन्धु मझारी॥
जेहि पर जाकर सत्य सनेहू। ता तेंहि मिले न कछु सदेहू॥
जामवन्त के बचन सुहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए॥'

पण्डित मोटेराम ने देखा कि चिन्तामणि का रग जमता जाता है, तो वे भी अपनी विद्वत्ता प्रकट करने को व्याकुल हो गये। बहुत दिमाग लड़ाया, पर कोई श्लोक, कोई मन्त्र, कोई कवित्त याद न आया। तब उन्होने सीधे-सीधे राम-नाम का पाठ आरम्भ कर दिया—

'राम भज, राम भज, राम भज रे मन'—इन्होंने इतने ऊँचे स्वर से जाप करना शुरु किया कि चिन्तामणि को भी अपना स्वर ऊँचा करना पड़ा। मोटेराम और ज़ोर से गरजने लगे। इतने में भडारीजी ने कहा— महाराज, अब भोग लगाइए। यह सुनकर उस प्रतिस्पर्द्धा का अन्त हुआ। भोग की तैयारी हुई। बालवृन्द सजग हो गया। किसी ने घटा लिया, किसी ने घड़ियाल, किसो ने शख, किसी ने करताल, चिन्तामणि ने आरती उठा ली। मोटेराम मन मे ऐंठकर रह गये। रानी के समीप जाने का यह अवसर उनके हाथ से निकल गया।

पर यह किसे मालूम था कि विधि-वाम उधर कुछ और ही कुटिल क्रीड़ा कर रहा है? आरती समाप्त हो गई थी, भोजन शुरू होने को ही था कि एक कुत्ता न-जाने किधर से आ निकला। पण्डित चिन्तामणि के हाथ से लड्डू थाल मे गिर पड़ा। पण्डित मोटेराम अकचकाकर रह गये। सर्वनाश!

चिन्तामणि ने मोटेराम से इशारे मे कहा—अब क्या करते हो मित्र, कोई उपाय निकालो, यहाँ तो कमर टूट गई।

मोटेराम ने लम्बी साँस खींचकर कहा—अब क्या हो सकता है? यह ससुर आया किधर से?

रानो पास ही खड़ी थीं, उन्होंने कहा—अरे, कुत्ता किधर से आ गया? यह तो रोज़ बँधा रहता था, आज कैसे छूट गया? अब तो रसोई भ्रष्ट हो गई।

चिन्ता०—सरकार, आचार्यों ने इस विषय में···

मोटे०—कोई हर्ज नहीं है, सरकार, कोई हर्ज नहीं है!

सोना—भाग्य फूट गया। जोहत-जोहत आधीरात बीत गई, तब ई बिपत फाट परी।

चिन्ता०—सरकार, स्वान के मुख में अमृत·· ·

मोटे०—तो अब आज्ञा हो, तो चलें।

रानी—हाँ, और क्या। मुझे बड़ा दु:ख है कि इस कुत्ते ने आज इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। तुम बड़े गुस्ताख हो गये टामी। भंडारी, ये पत्तल उठाकर मेहतर को दे दो।

चिन्ता०—(सोना से) छाती फटी जाती है।

सोना को बालकों पर दया आई। बेचारे इतनी देर देवोपम धैर्य के साथ बैठे थे। बस चलता, तो कुत्ते का गला घोंट देती। बोली—लरकन का तो दोष नाहीं परत हैं। इन्हे काहे नाहीं खवाय देत कोऊ।

चिन्ता०—मोटेराम महादुष्ट है। इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।

सोना—ऐसे तो बडे विद्वान् बनत रहैं। अब काहे नाहीं बोल्त बनत। मुँह मे दही जम गया, जीभै नहीं खुलत है।

चिन्ता०—सत्य कहता हूँ, रानी को चकमा देता। इस दुष्ट के मारे सब खेल बिगड गया। सारी अभिलाषा मन में रह गई। ऐसे पदार्थ अब कहाँ मिल सकते हैं?

सोना—सारी मनुसई निकस गई। घर ही में गरजै के सेर हैं।

रानी ने भंडारी को बुलाकर कहा—इन छोटे-छोटे तीनों बच्चों को खिला दो। ये बेचारे क्यों भूखों मरे। क्यों फेकूराम, मिठाई खाओगे!

फेकू—इसीलिए तो आये हैं।

रानी—कितनी मिठाई खाओगे?

फेकू—बहुत सी, (हाथों से बताकर) इतनी!

रानी—अच्छी बात है। जितनी खाओगे उतनी मिलेगी; पर जो बात मैं पूछूँ, वह बतानी पड़ेगी। बताओगे न?

फेकू—हाँ बताऊँगा, पूछिए!

रानी—झूठ बोले, तो एक मिठाई भी न मिलेगी। समझ गये!

फेकू—मत दीजियेगा। मैं झूठ बोलूँगा ही नहीं।

रानी—अपने पिता का नाम बताओ।

मोटे०—वालकों को हरदम सब वातें स्मरण नहीं रहतीं। उसने तो आते-ही आते बता दिया था।

रानी—मैं फिर पूछती हूँ, इसमें आपकी क्या हानि है ?

चिन्ता०—नाम पूछने मे कोई हर्ज नही।

मोटे०—तुम चुप रहो चिन्तामणि, नहीं तो ठीक न होगा। मेरे क्रोध को अभी तुम नहीं जानते। दबा बैठूँगा, तो रोते भागोगे।

रानी—आप तो व्यर्थ इतना क्रोध कर रहे हैं। वोलो फेकूराम, चुप क्यो हो ? फिर मिठाई न पाओगे।

चिन्ता०—महारानी की इतनी दया-दृष्टि तुम्हारे ऊपर है, बता दो बेटा !

मोटे०—चिन्तामणिजी, मै देख रहा हूँ, तुम्हारे अदिन आये हैं। वह नहीं बताता, तुम्हारा साझा—आये वहाँ से बड़े खैरख्वाह वन के।

सोना—अरे हाँ, लरकन से ई सब पँवार-से का मतलव। तुमका धरम परे मिठाई देव, न धरम परे न देव। ई का कि वाप का नाम, बताओ तव मिठाई देव।

फेकूराम ने धीरे से कोई नाम लिया। इस पर पण्डितजी ने उसे इतने जोर से डाटा कि उसकी आधी बात मुँह में ही रह गई।

रानी—क्यो डाटते हो, उसे बोलने क्यो नही देते ? वोलो बेटा !

मोटे०—आप हमें अपने द्वार पर बुलाकर हमारा अपमान कर रही हैं।

चिन्ता०—इसमे अपमान की तो कोई बात नहीं है, भाई !

मोटे०—अव हम इस द्वार पर कभी न आयेंगे। यहाँ सत्पुरुषो का अपमान किया जाता है।

अलगू—कहिए तो मैं चिन्तामणि को एक पटकन दूँ।

मोटे०—नहीं बेटा, दुष्टों को परमात्मा स्वय दण्ड देता है। चलो यहाँ से चलें। अव भूलकर भी यहाँ न आयेंगे। खिलाना न पिलाना, द्वार पर बुलाकर ब्राह्मणो का अपमान करना। तभी तो देश मे आग लगी हुई है।

चिन्ता०—मोटेराम, महारानी के सामने तुम्हे इतनी कटु वातें न करनी चाहिए।

मोटे०—वस, चुप ही रहना, नहीं तो सारा क्रोध तुम्हारे ही सिर जायगा। माता-पिता का पता नहीं, ब्राह्मण वनने चले हैं। तुम्हे कौन कहता है ब्राह्मण ?

चिन्ता०—जो कुछ मन चाहे, कह लो। चन्द्रमा पर थूकने से थूक अपने ही

मुँह पर पड़ता है। जब तुम धर्म का एक लक्षण भी नहीं जानते, तब तुमसे क्या बातें करूँ। ब्राह्मण को धैर्य रखना चाहिए।

मोटे०—पेट के गुलाम हो। ठकुरसोहाती कर रहे हो, कि एकाध पत्तल मिल जाय। यहाँ मर्यादा का पालन करते हैं!

चिन्ता०—कह तो दिया भाई कि तुम बड़े, मैं छोटा, अब और क्या कहूँ। तुम सत्य कहते होगे, मैं ब्राह्मण नहीं, शूद्र हूँ।

रानी—ऐसा न कहिए चिन्तामणिजी, आप यदि जन्म से शूद्र भी हों, तो इतने गुण रखते हुए आप ब्राह्मण ही हैं।

मोटे०—अच्छा चिन्तामणिजी, इसका बदला न लिया तो कहना!

यह कहते हुए पण्डित मोटेराम बालक-वृन्द के साथ बाहर चले आये और भाग्य को कोसते हुए घर को चले। बार-बार पछता रहे थे कि इस दुष्ट चिन्तामणि को क्यो बुला लाया।

सोना ने कहा—भण्डा फूटत-फूटत बच गया। फेकुआ नाँव बताय देत। काहे रे, अपने बाप केर नाँव बताय देते!

फेकू—और क्या। वे तो सच-सच पूछती थीं!

मोटे०—चिन्तामणि ने रङ्ग जमा लिया, अब आनन्द से भोजन करेगा।

सोना—तुम्हार एको विद्या काम न आई। ऊ तौन बाजी मार लेगा।

मोटे०—मैं तो जानता हूँ, रानी ने जान-बूझकर कुत्ते को बुला लिया।

सोना—मैं तो ओका मुँहे देखत ताड़ गई कि हमका पहचान गई।

इधर तो ये लोग पछताते चले जाते थे। उधर चिन्तामणि की पाँचों घी में थीं। आसन मारे भोजन कर रहे थे। रानी अपने हाथो से मिठाइयाँ परोस रही थीं, वार्त्तालाप भी होता जाता था।

रानी—बड़ा धूर्त है। मैं तो बालको को देखते ही समझ गई। अपनी स्त्री को भेष बदलकर लाते उसे लज्जा भी न आई।

चिन्ता०—मुझे कोस रहे होंगे।

रानी—मुझसे उडने चला था। मैंने भी कहा था—बचा, तुमको ऐसी शिक्षा दूँगी कि उम्र-भर याद करोगे। टामी को बुला लिया।

चिन्ता०—सरकार की बुद्धि को धन्य है!

रामलीला

इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बन्दरो के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगो का पाजामा और काला रग का ऊँचा कुरता पहने आदमियो को दौड़ते, हू-हू करते देखकर अब हँसी आती है, मजा नहीं आता। काशी की लीला जगद्-विख्यात् है। सुना है, लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक से गया, पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात की लीला में कोई अन्तर न दिखाई दिया। हाँ, रामनगर की लीला मे कुछ साज़-सामान अच्छे हैं। राक्षसों और बन्दरों के चेहरे पीतल के हैं, गदाएँ भी पीतल की, कदाचित् वनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हो, लेकिन साज़-सामान के सिवा वहाँ भी वही हू-हू के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी लाखो आदमियों की भीड़ लगी रहती है।

लेकिन एक जमाना वह था, जब मुझे भी रामलीला मे आनन्द आता था। आनन्द तो बहुत हलका-सा शब्द है। वह आनन्द उन्माद से कम न था। सयोग-वश उन दिनो मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर रामलीला का मैदान था, और जिस घर में लीला-पात्रो का रूप-रग भरा जाता था, वह तो मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर ही से वहाँ जा बैठता, और जिस उत्साह से दौड-दौड़कर छोटे-मोटे काम करता, उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन लेने भी नही जाता। एक कोठरी मे राजकुमारों का शृङ्गार होता था। उनकी देह मे रामरज पीसकर पोती जाती, मुँह पर पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले रग की बुँदकियाँ लगाई जाती थी। सारा माथा, भौंहे, गाल, ठोड़ी बुँदकियों से रच उठती थीं। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनो पात्रो का शृङ्गार करता था। रग की प्यालियों मे पानी लाना, रामरज पीसना, पखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता, तो उस पर रामचन्द्रजी के पीछे बैठकर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, जो रोमाच होता था, वह अब लाट साहब के दरबार मे कुरसी पर बैठकर

भी नहीं होता। एक बार जब होम-मेम्बर साहब ने व्यवस्थापक-सभा मे मेरे एक प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, उस वक्त मुझे कुछ उसी तरह का उल्लास, गर्व और रोमाच हुआ था। हाँ, एक बार जब मेरा ज्येष्ठ पुत्र नायब-तहसीलदारी मे नामजद हुआ तब भी ऐसी ही तरगें मन मे उठी थीं, पर इनमे और उस बाल-विह्वलता मे बड़ा अन्तर है। तब तो ऐसा मालूम होता था कि मैं स्वर्ग में बैठा हूँ।

निषाद-नौका-लीला का दिन था। मैं दो-चार लड़कों के बहकाने मे आकर गुल्ली-डडा खेलने लगा था। आज शृङ्गार देखने न गया। विमान भी निकला, पर मैंने खेलना न छोडा। मुझे अपना दाँव लेना था। अपना दाँव छोड़ने के लिए उससे कही बढकर आत्मत्याग की जरूरत थी, जितनी मैं कर सकता था। अगर दाँव देना होता, तो मैं कब का भाग खडा होता; लेकिन पदाने मे कुछ और ही बात होती है, खैर, दाँव पूरा हुआ। अगर मैं चाहता, तो धाँधली करके दस-पांच मिनट और पदा सकता था, इसकी काफी गुञ्जाइश थी, लेकिन अब इसका मौका न था। मैं सीधे नाले की तरफ दौड़ा। विमान जल-तट पर पहुँच चुका था। मैंने दूर से देखा—मल्लाह किश्ती लिये आ रहा है। दौडा, लेकिन आदमियों की भीड मे दौडना कठिन था। आखिर जब मैं भीड हटाता, प्राण-पण से आगे बढता घाट पर पहुँचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी! अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हे पढा दिया करता था, जिसमे वह फेल न हो जायँ। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा मे पढते थे। लेकिन, वही रामचन्द्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे, मानो मुझसे जान-पहचान ही नहीं। नकल मे भी असल की कुछ-न-कुछ बू आ ही जाती है। भक्तों पर जिनकी निगाह सदा ही तीखी रही है, वह मुझे क्यो उबारते? मैं विकल होकर उस बछड़े की भाँति कूदने लगा, जिसकी गरदन पर पहली बार जुआ रखा गया हो। कभी लपककर नाले की ओर जाता, कभी किसी सहायक की खोज मे पीछे की तरफ दौड़ता। पर सब के-सब अपनी धुन मे मस्त थे, मेरी चीख-पुकार किसी क कानो तक न पहुँची। तबसे बडी-बड़ी विपत्तियाँ झेलीं, पर उस समय जितना दु ख हुआ, उतना फिर कभी न हुआ।

मैंने निश्चय किया था कि अब रामचन्द्र से कभी न बोलूँगा, न कभी खाने की कोई चीज़ ही दूँगा, लेकिन ज्यों हो नाले को पार करके वह पुल की ओर लौटे,

में दौड़कर विमान पर चढ गया, और ऐसा खुश हुआ, मानो कोई बात ही न हुई थी।

(२)

रामलीला समाप्त हो गई थी। राजगद्दी होनेवाली थी, पर न-जाने क्यों देर हो रही थी। शायद चन्दा कम वसूल हुआ था। रामचन्द्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न घर जाने की ही छुट्टी मिलती थी, न भोजन का ही प्रबन्ध होता था। चौधरी साहब के यहाँ से एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था। बाकी सारे दिन कोई पानी को भी नही पूछता। लेकिन, मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों-की-त्यों थी। मेरी दृष्टि में वह अब भी रामचन्द्र ही थे। घर पर मुझे खाने की कोई चीज मिलती, वह लेकर रामचन्द्र को दे आता। उन्हे खिलाने मे मुझे जितना आनन्द मिलता था, उतना आप खा जाने मे कभी न मिलता। कोई मिठाई या फल पाते ही मैं बेतहासा चौपाल की ओर दौड़ता। अगर रामचन्द्र वहाँ न मिलते, तो उन्हे चारो ओर तलाश करता, और जब तक वह चीज उन्हे न खिला लेता, मुझे चैन न आता था।

ख़ैर, राजगद्दी का दिन आया। रामलीला के मैदान मे एक बड़ा-सा शामियाना ताना गया। उसकी खूब सजावट की गई। वेश्याओं के दल भी आ पहुँचे। शाम को रामचन्द्र की सवारी निकली, और प्रत्येक द्वार पर उनकी आरती उतारी गई। श्रद्धानुसार किसी ने रुपये दिये, किसी ने पैसे। मेरे पिता पुलिस के आदमी थे, इसलिए उन्होंने बिना कुछ दिये ही आरती उतारी। उस वक्त मुझे जितनी लज्जा आई, उसे बयान नहीं कर सकता। मेरे पास उस वक्त सयोग से एक रुपया था। मेरे मामाजी दशहरे के पहले आये थे और मुझे एक रुपया दे गये थे। उस रुपये को मैंने रख छोड़ा था। दशहरे के दिन भी उसे खर्च न कर सका। मैंने तुरन्त वह रुपया लाकर आरती की थाली मे डाल दिया। पिताजी मेरी ओर कुपित-नेत्रो से देखकर रह गये। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं, लेकिन मुँह ऐसा बना लिया, जिससे प्रकट होता था कि मेरी इस धृष्टता से उनके रोब मे बट्टा लग गया। रात के दस बजते-बजते यह परिक्रमा पूरी हुई। आरती की थाली रुपयों और पैसों से भरी हुई थी। ठीक तो नहीं कह सकता, मगर अब ऐसा अनुमान होता है कि चार-पाँच सौ रुपयो से कम न थे। चौधरी साहब इनसे कुछ ज्यादा ही खर्च कर

चुके थे। उन्हे इसकी बड़ी फिक्र हुई कि किसी तरह कम-से-कम दो सौ रुपये और वसूल हो जायँ। और इसकी सबसे अच्छी तरकीब उन्हे यही मालूम हुई कि वेश्याओं-द्वारा महफिल में वसूली हो। जब लोग आकर बैठ जायँ, और महफिल का रङ्ग जम जाय, तो आबादीजान रसिकजनो की कलाइयाँ पकड़-पकड़कर ऐसे हाव-भाव दिखाये कि लोग शरमाते-शरमाते भी कुछ-न-कुछ दे ही मरें। आबादी-जान और चौधरी साहब में सलाह होने लगी। मैं सयोग से उन दोनों प्राणियो की बाते सुन रहा था। चौधरी साहब ने समझा होगा, यह लौंडा क्या मतलब समझेगा। पर यहाँ ईश्वर की दया से अक्ल के पुतले थे। सारी दास्तान समझ में आती जाती थी।

चौधरी—सुनो आबादीजान, यह तुम्हारी ज़्यादती है। हमारा और तुम्हारा कोई पहला साबिका तो है नहीं। ईश्वर ने चाहा, तो यहाँ हमेशा तुम्हारा आना-जाना लगा रहेगा। अबकी चन्दा बहुत कम आया, नहीं तो मैं तुमसे इतना इसरार न करता।

आबादी०—आप मुझसे भी जमींदारी चाले चलते हैं, क्यों? मगर यहाँ हुजूर की दाल न गलेगी। वाह! रुपये तो मैं वसूल करूँ, और मूछों पर ताव आप दें। कमाई का यह अच्छा ढग निकाला है। इस कमाई से तो वाकई आप थोड़े दिनो मे राजा हो जायँगे। उसके सामने जमींदारी झक मारेगी! बस, कल ही से एक चकला खोल दीजिए! खुदा की कसम, मालामाल हो जाइएगा।

चौधरी—तुम तो दिल्लगी करती हो, और यहाँ काफिया तग हो रहा है।

आबादी०—तो आप भी तो मुझी से उस्तादी करते है। यहाँ आप जैसे काँइयों को रोज उँगलियों पर नचाती हूँ।

चौधरी—आखिर तुम्हारी मशा क्या है?

आबादी०—जो कुछ वसूल करूँ, उसमे आधा मेरा और आधा आपका। लाइए, हाथ मारिए।

चौधरी—यही सही।

आबादी०—अच्छा, तो पहले मेरे सौ रुपये गिन दीजिए। पीछे से आप अलसेठ करने लगेंगे।

चौधरी—वाह! वह भी लोगी और यह भी।

आबादी०—अच्छा! तो क्या आप समझते थे कि अपनी उज़रत छोड़ दूँगी? वाह री आपकी समझ! खूब, क्यों न हो। दीवाना बकारे ख्वेश हुशियार।

चौधरी—तो क्या तुमने दोहरी फीस लेने की ठानी है?

आबादी०—अगर आपको सौ दफे गरज हो, तो! वरना मेरे सौ रुपये तो कहीं गये ही नहीं। मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो लोगों की जेब में हाथ डालती फिरूँ?

चौधरी की एक न चली। आबादी के सामने दबना पड़ा। नाच शुरू हुआ। आबादीजान बला की शोख औरत थी। एक तो कमसिन, उस पर हसीन। और, उसकी अदाएँ तो इस गजब की थीं कि मेरी तबीयत भी मस्त हुई जाती थी। आदमियों को पहचानने का गुण भी उसमे कुछ कम न था। जिसके सामने बैठ गई, उससे कुछ-न-कुछ ले ही लिया। पाँच रुपये से कम तो शायद ही किसी ने दिये हों। पिताजी के सामने भी वह जा बैठी। मैं मारे शर्म के गड़ गया। जब उसने उनकी कलाई पकड़ी, तब तो मैं सहम उठा। मुझे यकीन था कि पिताजी उसका हाथ झटक देंगे। और शायद दुत्कार भी दें, किन्तु यह क्या हो रहा है! ईश्वर! मेरी आँखें धोखा तो नहीं खा रही है! पिताजी मूँछों मे हँस रहे हैं। ऐसी मृदु-हँसी उनके चेहरे पर मैंने कभी नही देखी थी। उनकी आँखों से अनुराग टपका पड़ता था। उनका एक-एक रोम पुलकित हो रहा था, मगर ईश्वर ने मेरी लाज रख ली। वह देखो, उन्होंने धीरे से आबादी के कोमल हाथों से अपनी कलाई छुड़ा ली। अरे! यह फिर क्या हुआ? आबादी तो उनके गले में बाँहे डाले देती है। अब की पिताजी ज़रूर उसे पीटेंगे। चुड़ैल को जरा भी शर्म नहीं।

एक महाशय ने मुसकिराकर कहा—यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी, आबादीज़ान! और दरवाज़ा देखो।

बात तो इन महाशय ने मेरे मन की कही, और बहुत ही उचित कही, लेकिन न-जाने क्यों पिताजी ने उनकी ओर कुपित-नेत्रों से देखा, और मूँछों पर ताव दिया। मुँह से तो वह कुछ न बोले, पर उनके मुख की आकृति चिल्लाकर सरोष शब्दों में कह रही थी—तू बनिया, मुझे समझता क्या है? यहाँ ऐसे अवसर पर जान तक निसार करने को तैयार हैं। रुपये की हकीकत ही क्या! तेरा जी चाहे आज़मा ले। तुझसे दूनी रकम न दे डालूँ, तो मुँह न दिखाऊँ! महान् आश्चर्य!

घोर अनर्थ ! अरे ज़मीन, तू फट क्यों नहीं जाती ? आकाश, तू फट क्यों नहीं पड़ता ? अरे, मुझे मौत क्यों नहीं आ जाती ! पिताजी जेब में हाथ डाल रहे हैं। वह कोई चीज निकाली, और सेठजी को दिखाकर आबादीजान को दे डाली। आह ! यह तो अशर्फी है। चारों ओर तालियाँ बजने लगीं। सेठजी उल्लू बन गये। पिताजी ने मुँह की खाई, इसका निश्चय मैं नहीं कर सकता। मैंने केवल इतना देखा कि पिताजी ने एक अशर्फी निकालकर आबादीजान को दी। उनकी आँखों में इस समय इतना गर्वयुक्त उल्लास था, मानो उन्होंने हातिम की कब्र पर लात मारी हो। यही पिताजी हैं, जिन्होंने मुझे आरती में एक रुपया डालते देखकर मेरी ओर इस तरह से देखा था, मानो मुझे फाड़ ही खायेंगे। मेरे उस परमोचित व्यवहार से उनके रोब में फर्क़ आता था, और इस समय इस घृणित, कुत्सित और निन्दित व्यापार पर गर्व और आनन्द से फूले न समाते थे।

आबादीजान ने एक मनोहर मुसकान के साथ पिताजी को सलाम किया और आगे बढ़ी, मगर मुझसे वहाँ न बैठा गया। मारे शर्म के मेरा मस्तक झुका जाता था, अगर मेरी आँखों-देखी बात न होती, तो मुझे इस पर कभी एतबार न होता। मैं बाहर जो कुछ देखता-सुनता था, उसकी रिपोर्ट अम्माँ से ज़रूर करता था। पर इस मामले को मैंने उनसे छिपा रखा। मैं जानता था, उन्हें यह बात सुनकर बड़ा दुःख होगा।

रात-भर गाना होता रहा। तबले की धमक मेरे कानों में आ रही थी। जी चाहता था, चलकर देखूँ, पर साहस न होता था। मैं किसी को मुँह कैसे दिखाऊँगा ? कहीं किसी ने पिताजी का जिक्र छेड़ दिया, तो मैं क्या करूँगा ?

प्रातःकाल रामचन्द्र की विदाई होनेवाली थी। मैं चारपाई से उठते ही आँखें मलता हुआ चौपाल की ओर भागा। डर रहा था कि कहीं रामचन्द्र चले न गये हों। पहुँचा, तो देखा—तायफ़ों की सवारियाँ जाने को तैयार हैं। बीसों आदमी हसरत-नाक मुँह बनाये उन्हें घेरे खड़े हैं। मैंने उनकी ओर आँख तक न उठाई। सीधा रामचन्द्र के पास पहुँचा। लक्ष्मण और सीता बैठे रो रहे थे, और रामचन्द्र खड़े काँधे पर लुटिया-डोर डाले उन्हें समझा रहे थे। मेरे सिवा वहाँ और कोई न था। मैंने कुंठित-स्वर से रामचन्द्र से पूछा—क्या तुम्हारी विदाई हो गई ?

रामचन्द्र—हाँ, हो तो गई। हमारी विदाई ही क्या ? चौधरी साहब ने कह दिया—जाओ, चले जाते हैं।

'क्या रुपये और कपड़े नहीं मिले ?'

'अभी नहीं मिले। चौधरी साहब कहते हैं—इस वक्त बचत में रुपये नहीं हैं। फिर आकर ले जाना।'

'कुछ नहीं मिला ?'

'एक पैसा भी नहीं। कहते हैं, कुछ बचत नहीं हुई। मैंने सोचा था, कुछ रुपये मिल जायँगे, तो पढने की किताबें ले लूँगा! सो कुछ न मिला। राह-खर्च भी नहीं दिया। कहते हैं—कौन दूर है, पैदल चले जाओ!'

मुझे ऐसा क्रोध आया कि चलकर चौधरी को खूब आड़े हाथो लूँ। वेश्याओं के लिए रुपये, सवारियाँ सब कुछ, पर बेचारे रामचन्द्र और उनके साथियों के लिए कुछ भी नहीं! जिन लोगों ने रात को आवादोज़ान पर दस-दस, बीस-बीस रुपये न्योछावर किये थे, उनके पास क्या इनके लिए दो-दो, चार-चार आने पैसे भी नहीं। पिताजी ने भी तो आवादोज़ान को एक अशर्फी दी थी। देखूँ, इनके नाम पर क्या देते हैं! मैं दौड़ा हुआ पिताजी के पास गया। वह कहीं तफतीश पर जाने को तैयार खड़े थे। मुझे देखकर बोले—कहाँ घूम रहे हो ? पढने के वक्त तुम्हें घूमने की सूझती है ?

मैंने कहा—गया था चौपाल। रामचन्द्र विदा हो रहे थे। उन्हे चौधरी साहब ने कुछ नहीं दिया।

'तो तुम्हे इसकी क्या फिक्र पड़ी है ?'

'वह जायँगे कैसे ? पास राह-खर्च भी तो नहीं है!'

'क्या कुछ खर्च भी नहीं दिया ? यह चौधरी साहब की बेइसाफी है।'

'आप अगर दो रुपया दे दें, तो मैं उन्हे दे आऊँ। इतने में शायद वह घर पहुँच जायँ।'

पिताजी ने तीव्र दृष्टि से देखकर कहा—जाओ, अपनी किताब देखो। मेरे पास रुपये नहीं हैं।

यह कहकर वह घोड़े पर सवार हो गये। उसी दिन से पिताजी पर से मेरी श्रद्धा उठ गई। मैंने फिर कभी उनकी डाट-डपट की परवा नहीं की। मेरा दिल कहता—आपको मुझे उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। मुझे उनकी सूरत से चिढ़ हो गई। वह जो कहते, मैं ठीक उसका उल्टा करता। यद्यपि इससे मेरी हो

हानि हुई ; लेकिन मेरा अन्तःकरण उस समय विप्लवकारी विचारों से भरा हुआ था ।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे । मैंने पैसे उठा लिये, और जाकर शरमाते-शरमाते रामचन्द्र को दे दिये । उन पैसों को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिए आशातीत था । टूट पड़े, मानो प्यासे को पानी मिल गया ।

वही दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियां विदा हुई । केवल मैं ही उनके साथ क़स्बे के बाहर तक पहुँचाने आया ।

उन्हें विदा करके लौटा, तो मेरी आंखें सजल थीं, पर हृदय आनन्द से उमड़ा हुआ था ।

मन्त्र

पण्डित लीलाधर चौबे की जबान मे जादू था। जिस वक्त वह मञ्च पर खड़े होकर अपनी वाणी की सुधा-वृष्टि करने लगते थे, श्रोताओं की आत्माएँ तृप्त हो जाती थीं, लोगों पर अनुराग का नशा छा जाता था। चौबेजी के व्याख्यानों में तत्त्व तो बहुत कम होता था, शब्द-योजना भी बहुत सुन्दर न होती थी, लेकिन उनकी शैली इतनी आकर्षक, रञ्जक और मर्मस्पर्शी थी कि एक ही व्याख्यान को बार-बार दुहराने पर भी उसका असर कम न होता, बल्कि घन की चोटों की भाँति और भी प्रभावोत्पादक हो जाता था। हमें तो विश्वास नहीं आता; किन्तु सुननेवाले कहते है, उन्होंने केवल एक व्याख्यान रट रखा है। और उसी को वह शब्दश प्रत्येक सभा मे एक नये अन्दाज से दुहराया करते हैं। जातीय गौरव-गान उनके व्याख्यानों का प्रधान गुण था, मञ्च पर आते ही भारत के प्राचीन गौरव और पूर्वजों की अमर-कीर्ति का राग छेड़कर सभा को मुग्ध कर देते थे। यथा—

'सज्जनो! हमारी अधोगति की कथा सुनकर किसकी आँखों से अश्रुधारा न निकल पड़ेगी? हमें अपने प्राचीन गौरव को याद करके सन्देह होने लगता है कि हम वही है, या बदल गये। जिसने कल सिह से पजा लिया, वह आज चूहे को देखकर बिल खोज रहा है। इस पतन की भी कोई सीमा है? दूर क्यों जाइए, महाराज चन्द्रगुप्त के समय को ही ले लीजिए। यूनान का सुविज्ञ इतिहासकार लिखता है कि उस जमाने मे यहाँ द्वार पर ताले न डाले जाते थे, चोरी कहीं सुनने में न आती थी, व्यभिचार का नाम-निशान न था, दस्तावेज़ों का आविष्कार ही न हुआ था, पुर्जों पर लाखों का लेन-देन हो जाता था, न्याय-पद पर बैठे हुए कर्मचारी मक्खियाँ मारा करते थे। सज्जनो, उन दिनो कोई आदमी जवान न मरता था (तालियाँ)। हाँ, उन दिनो कोई आदमी जवान न मरता था। बाप के सामने बेटे का अवसान हो जाना, एक अश्रुत-पूर्व—एक असम्भव—घटना थी। आज ऐसे

कितने माता-पिता हैं, जिनके कलेजे पर जवान बेटों का दाग न हो ? वह भारत नहीं रहा, भारत गारत हो गया !'

यही चौबेजी की शैली थी। वह वर्तमान की अधोगति और दुर्दशा तथा भूत की समृद्धि और सुदशा का राग अलापकर लोगों में जातीय स्वाभिमान को जाग्रत कर देते थे। इसी सिद्धि की बदौलत उनकी नेताओं में गणना होती थी। विशेषत हिन्दू-सभा के तो वह कर्णधार ही समझे जाते थे। हिन्दू-सभा के उपासकों मे कोई ऐसा उत्साही, ऐसा दक्ष, ऐसा नीति-चतुर दूसरा न था। यों कहिए कि सभा के लिए उन्होंने अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था। धन तो उनके पास न था, कम-से-कम लोगों का विचार यही था, लेकिन साहस, धैर्य और बुद्धि-जैसे अमूल्य रत्न उनके पास अवश्य थे, और ये सभी सभा को अर्पण थे। 'शुद्धि' के तो मानो वह प्राण ही थे। हिन्दू-जाति का उत्थान और पतन, जीवन और मरण उनके विचार मे इसी प्रश्न पर अवलम्बित था। शुद्धि के सिवा अब हिन्दू-जाति के पुनर्जीवन का और कोई उपाय न था। जाति की समस्त नैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक बीमारियों की दवा इसी आन्दोलन की सफलता मे मर्यादित थी, और वह तन-मन से इसका उद्योग किया करते थे। चन्दे वसूल करने मे चौबेजी सिद्ध-हस्त थे। ईश्वर ने उन्हे वह 'गुर' बता दिया था कि पत्थर से भी तेल निकाल सकते थे। कजूसों को तो वह ऐसा उलटे छुरे से मूडते थे कि उन महाशयों को सदा के लिए शिक्षा मिल जाती थी। इस विषय मे पण्डितजी साम, दाम, दण्ड और भेद, चारो नीतियों से काम लेते थे, यहाँ तक कि राष्ट्र-हित के लिए डाका और चोरी को भी क्षम्य समझते थे।

(२)

गरमी के दिन थे। लीलाधरजी किसी शीतल पार्वत्य-प्रदेश को जाने की तैयारियाँ कर रहे थे कि सैर-की-सैर हो जायगी, और बन पड़ा तो कुछ चन्दा भी वसूल कर लायेंगे। उनको जब भ्रमण की इच्छा होती, तो मित्रों के साथ एक डेपुटेशन के रूप में निकल खड़े होते, अगर एक हजार रुपये वसूल करके वह इसका आधा सैर-सपाटे मे खर्च भी कर दे, तो किसी की क्या हानि ? हिन्दू-सभा को तो कुछ-न-कुछ मिल ही जाता था। वह न उद्योग करते, तो इतना भी तो न मिलता ! पण्डितजी ने अबकी सपरिवार जाने का निश्चय किया था। जबसे 'शुद्धि' का

आविर्भाव हुआ था, उनकी आर्थिक दशा, जो पहले बहुत शोचनीय रहती थी, बहुत कुछ सम्हल गई थी।

लेकिन जाति के उपासकों का ऐसा सौभाग्य कहाँ कि शान्ति-निवास का आनन्द उठा सकें! उनका तो जन्म ही मारे-मारे फिरने के लिए होता है। खबर आई कि मदरास-प्रान्त मे तबलीग़वालो ने तूफ़ान मचा रखा है। हिन्दुओ के गाँव-के-गाँव मुसल्मान होते जाते हैं। मुल्लाओ ने बड़े जोश से तबलीग़ का काम शुरू किया है, अगर हिन्दू-सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की, तो सारा प्रान्त हिन्दुओ से शून्य हो जायगा—किसी शिखाधारी की सूरत न नजर आयेगी।

हिन्दू-सभा मे खलबली मच गई। तुरन्त एक विशेष अधिवेशन हुआ और नेताओ के सामने यह समस्या उपस्थित की गई। बहुत सोच-विचार के बाद निश्चय हुआ कि चौबेजी पर इस कार्य का भार रखा जाय। उनसे प्रार्थना की जाय कि वह तुरन्त मदरास चले जायँ, और धर्म-विमुख बन्धुओं का उद्धार करें। कहने ही की देर थी। चौबेजी तो हिन्दू-जाति की सेवा के लिए अपने को अर्पण ही कर चुके थे, पर्वत-यात्रा का विचार रोक दिया, और मदरास जाने को तैयार हो गये। हिन्दू-सभा के मन्त्री ने आँखो मे आँसू भरकर उनसे विनय की कि महाराज, यह बीड़ा आप ही उठा सकते हैं। आप ही को परमात्मा ने इतनी सामर्थ्य दी है। आपके सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य भारतवर्ष मे नहीं है, जो इस घोर विपत्ति मे काम आये। जाति की दीन-हीन दशा पर दया कीजिए। चौबेजी इस प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। फौरन सेवकों की एक मण्डली बनी और पण्डितजी के नेतृत्व मे रवाना हुई। हिन्दू-सभा ने उसे बडी धूम से विदाई का भोज दिया। एक उदार रईस ने चौबेजी को एक थैली भेंट की, और रेलवे-स्टेशन पर हज़ारो आदमी उन्हें विदा करने आये।

यात्रा का वृत्तान्त लिखने की ज़रूरत नहीं। हर एक बडे स्टेशन पर सेवको का सम्मानपूर्ण स्वागत हुआ। कई जगह थैलियाँ मिलीं। रतलाम की रियासत ने एक शामियाना भेंट किया। बड़ोदा ने एक मोटर दी कि सेवको को पैदल चलने का कष्ट न उठाना पड़े, यहाँ तक कि मदरास पहुँचते-पहुँचते सेवादल के पास एक माकूल रकम के अतिरिक्त जरूरत की कितनी चीजें जमा हो गईं। वहाँ आबादी से दूर खुले हुए मैदान में हिन्दू-सभा का पड़ाव पड़ा। शामियाने पर राष्ट्रीय-झण्डा

लहराने लगा। सेवकों ने अपनी-अपनी वर्दियाँ निकालीं, स्थानीय धन-कुवेरों ने दावत के सामान भेजे, रावटियाँ पड़ गईं। चारों ओर ऐसी चहल-पहल हो गई, मानो किसी राजा का कैम्प है।

(३)

रात के आठ बजे थे। अछूतों की एक बस्ती के समीप, सेवक-दल का कैंप, गैस के प्रकाश से जगमगा रहा था। कई हजार आदमियों का जमाव था, जिनमें अधिकांश अछूत ही थे। उनके लिए अलग टाट बिछा दिये गये थे। ऊँचे वर्ण के हिन्दू कालीनों पर बैठे हुए थे। पण्डित लीलाधर का धुआँधार व्याख्यान हो रहा था—'तुम उन्हीं ऋषियों की सन्तान हो, जो आकाश के नीचे, एक नई सृष्टि की रचना कर सकते थे! जिनके न्याय, बुद्धि और विचार-शक्ति के सामने आज सारा संसार सिर झुका रहा है।'

सहसा एक बूढ़े अछूत ने उठकर पूछा—हम लोग भी उन्हीं ऋषियों की सन्तान हैं?

लीलाधर—निस्सदेह! तुम्हारी धमनियों में भी उन्हीं ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है और यद्यपि आज का निर्दयी, कठोर, विचार-हीन और संकुचित हिन्दू-समाज तुम्हें अवहेलना की दृष्टि से देख रहा है, तथापि तुम किसी हिन्दू से नीच नहीं हो, चाहे वह अपने को कितना ही ऊँचा समझता हो।

बूढ़ा—तुम्हारी सभा हम लोगों की सुध क्यों नहीं लेती?

लीलाधर—हिन्दू-सभा का जन्म अभी थोड़े ही दिन हुए हुआ है, और इस अल्पकाल में उसने जितने काम किये हैं, उन पर उसे अभिमान हो सकता है। हिन्दू-जाति शताब्दियों के बाद गहरी नींद से चौंकी है, और अब वह समय निकट है, जब भारतवर्ष में कोई हिन्दू किसी हिन्दू को नीच न समझेगा, जब वह सब एक दूसरे को भाई समझेंगे। श्रीरामचन्द्र ने निषाद को छाती से लगाया था, शबरी के जूठे बेर खाये थे।

बूढ़ा—आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं, तो फिर ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं?

लीलाधर—इसलिए कि हम पतित हो गये हैं—अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गये हैं।

बूढ़ा—अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे ?

लीलाधर—मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा—मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजियेगा ?

लीलाधर—जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार मे परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का सम्बन्ध नहीं कर सकते। मास खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं मे मिल सकते हो।

बूढ़ा—हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणो को जानते हैं, जो रात-दिन नशे मे डूबे रहते हैं, मास के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे है, जो एक अक्षर भी नहीं पढे हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह-सम्बन्ध करने मे आपको कदाचित् इनकार न होगा। जब आप खुद अज्ञान मे पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते है ? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। जाइए, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का सुधार कीजिए। हमारा उद्धार आपके किये न होगा। हिन्दू-समाज मे रहकर हमारे माथे से नीचता का कलक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान् हो हो जायँ, आप हमे यो ही नीच समझते रहेगे। हिन्दुओं की आत्मा मर गई है, और उसका स्थान अहकार ने ले लिया है। हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं, जिसके माननेवाले हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदलकर आओ। हम अच्छे है या बुरे, वे इसी दशा मे हमे अपने पास बुला रहे हैं। आप अगर ऊँचे हैं, तो ऊँचे बने रहिए। हमे उड़ना न पड़ेगा।

लीलाधर- एक ऋषि-सतान के मुँह से ऐसी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। वर्ण-भेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो ?

बूढ़ा—ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते है--तुम मदिरा पीते हो, लेकिन आप मदिरा पीनेवालो की जूतियाँ चाटते हे। आप हमसे मास खाने के कारण घिनाते हे, लेकिन आप गो-मास खानेवालो के सामने नाक रगडते है। इसीलिए न कि वे आपसे बलवान् है ? हम भी आज राजा हो जायँ, तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके

के अंश में रंग। सारे कपड़े लहू-लुहान हो रहे थे। समझ गया, पण्डितजी के साथियों ने उन्हें मारकर अपनी राह ली। सहसा पण्डितजी के मुँह से कराहने की आवाज़ निकली। अभी जान बाकी थी। बूढ़ा तुरन्त दौड़ा हुआ गाँव में गया, और कई आदमियों को लाकर पण्डितजी को अपने घर उठवा ले गया।

मरहम-पट्टी होने लगी। बूढ़ा दिन-के दिन और रात-की-रात पण्डितजी के पास बैठा रहता। उसके घरवाले उनकी शुश्रूषा में लगे रहते। गाँववाले भी यथाशक्ति सहायता करते। इस बेचारे का यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है? अपने हैं तो हम, बेगाने हैं तो हम। हमारे ही उद्धार के लिए तो बेचारा यहाँ आया था, नहीं तो यहाँ उसे क्या लेना था? कई बार पण्डितजी अपने घर पर बीमार पड़ चुके थे, पर उनके घरवालों ने इतनी तन्मयता से उनकी तीमारदारी न की थी। सारा घर, और घर ही नहीं, सारा गाँव उनका गुलाम बना हुआ था। अतिथि-सेवा उनके धर्म का एक अंग थी। सभ्य-स्वार्थ ने अभी उस भाव का गला नहीं घोंटा था। साँप का मन्त्र जाननेवाला देहाती अब भी माघ-पूस की अँधेरी मेघाच्छन्न रात्रि में मन्त्र झाड़ने के लिए दस-पाँच कोस पैदल दौड़ता हुआ चला जाता है। उसे डबल फीस और सवारी की जरूरत नहीं होती। बूढ़ा मल मूत्र तक अपने हाथों उठाकर फेंकता, पण्डितजी की घुड़कियाँ सुनता, सारे गाँव से दूध माँगकर उन्हें पिलाता। पर उसकी त्योरियाँ कभी मैली न होतीं। अगर उसके कहीं चले जाने पर घरवाले लापरवाही करते तो आकर सबको डाँटता।

महीने-भर के बाद पण्डितजी चलने-फिरने लगे, और अब उन्हें ज्ञात हुआ कि इन लोगों ने मेरे साथ कितना उपकार किया है। इन्हीं लोगों का काम था कि मुझे मौत के मुँह से निकाला, नहीं तो मरने में क्या कसर रह गई थी? उन्हें अनुभव हुआ कि मैं जिन लोगों को नीच समझता था, और जिनके उद्धार का बीड़ा उठाकर आया था, वे मुझसे कहीं ऊँचे हैं। मैं इस परिस्थिति में कदाचित् रोगी को किसी अस्पताल भेजकर ही अपनी कर्तव्यनिष्ठा पर गर्व करता, समझता—मैंने दधीचि और हरिश्चन्द्र का मुख उज्ज्वल कर दिया। उनके रोएँ-रोएँ से इन देव-तुल्य प्राणियों के प्रति आशीर्वाद निकलने लगा।

(६)

तीन महीने गुजर गये। न तो हिन्दू-सभा ने पण्डितजी की खबर ली, और न

घरवालो ने। सभा के मुख-पत्र मे उनकी मृत्यु पर आँसू बहाये गये, उनके कामो की प्रशसा की गई, और उनका स्मारक बनाने के लिए चन्दा खोल दिया गया। घरवाले भी रो-पीटकर बैठ रहे।

उधर पण्डितजी दूध और घी खाकर चौक-चौबन्द हो गये। चेहरे पर खून की सुर्खी दौड़ गई, देह भर आई। देहात के जल-वायु ने वह काम कर दिखाया, जो कभी मलाई और मक्खन से न हुआ था। पहले की तरह तैयार तो वह न हुए, पर फुर्ती और चुस्ती दुगुनी हो गई। मोटाई का आलस्य अब नाम को भी न था। उनमे एक नये जीवन का सचार हो गया।

जाड़ा शुरू हो गया था। पण्डितजी घर लौटने की तैयारियाँ कर रहे थे। इतने मे प्लेग का आक्रमण हुआ, और गाँव के तीन आदमी बीमार हो गये। बूढा चौधरी भी उन्हीं मे था। घरवाले इन रोगियो को छोड़कर भाग खडे हुए। वहाँ का दस्तूर था कि जिन बीमारियो को वे लोग दैवी कोप समझते थे, उनके रोगियो को छोडकर चले जाते थे। उन्हे बचाना देवताओ से बैर मोल लेना था, और देवताओं से बैर करके कहाँ जाते? जिस प्राणी को देवताओं ने चुन लिया, उसे भला वे उसके हाथों से छीनने का साहस कैसे करते? पण्डितजी को भी लोगों ने साथ ले जाना चाहा, किन्तु पण्डितजी न गये। उन्होने गाँव मे रहकर रोगियो की रक्षा करने का निश्चय किया। जिस प्राणी ने उन्हे मौत के पजे से छुड़ाया था, उसे इस दशा मे छोड़कर वह कैसे जाते? उपकार ने उनकी आत्मा को जगा दिया था। बूडे चोधरी ने तीसरे दिन होश आने पर जब उन्हे अपने पास खडे देखा, तो बोला—महाराज, तुम यहाँ क्यो आ गये? मेरे लिए देवताओ का हुक्म आ गया है। अब मैं किसी तरह नहीं रुक सकता। तुम क्यों अपनी जान जोखिम मे डालते हो? मुझ पर दया करो, चले जाओ।

लेकिन पण्डितजी पर कोई असर न हुआ। वह बारी-बारी से तीनों रोगियों के पास जाते, और कभी उनको गिल्टियाँ सेंकते, कभी उन्हे पुराणो की कथाएँ सुनाते। घरो में नाज, बरतन आदि सब ज्यों-के त्यों रखे हुए थे। पण्डितजी पथ्य बना-बनाकर रोगियों को खिलाते। रात को जब रोगी भी सो जाते, और सारा गाँव भायँ-भायँ करने लगता, तो पण्डितजी को भाँति-भाँति के भयकर जन्तु दिखाई देते। उनके कलेजे में धडकन होने लगती; लेकिन वहाँ से टलने का नाम न लेते। उन्होंने

निश्चय कर लिया था कि या तो इन लोगो को बचा ही लूँगा, या इन पर अपने को बलिदान ही कर दूँगा ।

जब तीन दिन सेंक-बाँध करने पर भी रोगियो की हालत न सँभली, तो पण्डितजी को बड़ी चिन्ता हुई । शहर वहाँ से बीस मील पर था । रेल का कहीं पता नहीं, रास्ता बीहड और साथी कोई नहीं । इधर यह भय कि अकेले रोगियो की न-जाने क्या दशा हो । बेचारे बडे सकट में पडे । अन्त को चौथे दिन, पहर रात रहे, वह अकेले ही शहर को चल दिये और दस बजते-बजते वहाँ जा पहुँचे । अस्पताल से दवा लेने मे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा । गँवारों से अस्पतालवाले दवाओ का मन-माना दाम वसूल किया करते थे । पण्डितजी को मुफ़्त क्यो देने लगे । डाक्टर के मुशी ने कहा—दवा तैयार नही है ।

पण्डितजी ने गिड़गिड़ाकर कहा—सरकार, बडी दूर से आया हूँ । कई आदमी बीमार पडे है । दवा न मिलेगी, तो सब मर जायँगे ।

मुशी ने बिगडकर कहा – क्यों सिर खाये जाते हो ? कह तो दिया, दवा तैयार नही है, और न इतनी जल्द तैयार हो सकती है ।

पण्डितजी अत्यन्त दीनभाव से बोले—सरकार, ब्राह्मण हूँ, आपके बाल-बच्चो को भगवान् चिरञ्जीवी करें, दया कीजिए । आपका अकबाल चमकता रहे ।

रिश्वती कर्मचारियो मे दया कहाँ ? वे तो रुपये के गुलाम हैं । ज्यों-ज्यों पण्डितजी उसकी खुशामद करते थे, वह और भी झल्लाता था । अपने जीवन मे पण्डित-जी ने कभी इतनी दीनता न प्रकट की थी । उनके पास इस वक्त एक धेला भी न था, अगर वह जानते कि दवा मिलने मे इतनी दिक्कत होगी, तो गाँववालों से ही कुछ माँग-जांचकर लाये होते । बेचारे हतबुद्धि-से खड़े सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिए ? सहसा डाक्टर साहब स्वयं बँगले से निकल आये । पण्डितजी लपककर उनके पैरो पर गिर पड़े और करुण-स्वर मे बोले—दीनबधु, मेरे घर के तीन आदमी ताऊन मे पडे हुए हैं । बडा गरीब हूँ सरकार, कोई दवा मिले ।

डाक्टर साहब के पास ऐसे ग़रीब लोग नित्य आया करते थे । उनके चरणों पर किसी का गिर पड़ना, उनके सामने पड़े हुए आर्तनाद करना, उनके लिए कुछ नई बातें न थीं , अगर इस तरह वह दया करने लगते तो दया ही भर को होते, यह

ठाट-बाट कहाँ से निभता ? मगर दिल के चाहे कितने ही बुरे हों, बातें मीठी-मीठी करते थे, पैर हटाकर बोले—रोगी कहाँ है ?

पण्डितजी—सरकार, वे तो घर पर हैं। इतनी दूर कैसे लाता ?

डाक्टर—रोगी घर, और तुम दवा लेने आया है। कितना मजे का बात है। रोगी को देखे बिना कैसे दवा दे सकता है ?

पण्डितजी को अपनी भूल मालूम हुई। वास्तव मे बिना रोगी को देखे रोग की पहचान कैसे हो सकती है, लेकिन तीन-तीन रोगियों को इतनी दूर लाना आसान न था। अगर गाँववाले उनकी सहायता करते, तो डोलियो का प्रबन्ध हो सकता था, पर वहाँ तो सब-कुछ अपने ही बूते पर करना था, गाँववालो से इसमे सहायता मिलने की कोई आशा न थी। सहायता को कौन कहे, वे तो उनके शत्रु हो रहे थे। उन्हे भय होता था कि यह दुष्ट देवताओं से बैर बढाकर हम लोगों पर न-जाने क्या विपत्ति लायेगा, अगर कोई दूसरा आदमी होता, तो वह उसे कबका मार चुके होते। पण्डितजी से उन्हे प्रेम हो गया था, इसी लिए छोड़ दिया था।

यह जवाब सुनकर पण्डितजी को कुछ बोलने का साहस तो न होता था, पर कलेजा मज़बूत करके बोले—सरकार, अब कुछ नही हो सकता ?

डाक्टर—अस्पताल से दवा नहीं मिल सकता। हम अपने पास से, दाम लेकर दवा दे सकता है।

पण्डितजी—यह दवा कितने की होगी सरकार ?

डाक्टर साहब ने दवा का दाम १०) बतलाया, और यह भी कहा कि इस दवा से जितना लाभ होगा, उतना अस्पताल को दवा से नहीं हो सकता। बोले—वहाँ पुराना दवाई रखा रहता है। गरीब लोग आता है, दवाई ले जाता है, जिसको जीना होता है, जीता है, जिसे मरना होता है, मरता है, हमसे कुछ मतलब नहीं। हम तुमको जो दवा देगा, वह सच्चा दवा होगा।

दस रुपये !—इस समय पण्डितजी को दस रुपये दस लाख जान पड़े। इतने रुपये वह एक दिन मे भंग-बूटी मे उड़ा दिया करते थे, पर इस समय तो धेले-धेले को मुहताज थे। किसी से उधार मिलने की आशा कहाँ। हाँ, सभव है भिक्षा माँगने से कुछ मिल जाय; लेकिन इतनी जल्द दस रुपये किसी भी उपाय से न मिल सकते थे। आध घण्टे तक वह इसी उधेड़-बुन में खड़े रहे। भिक्षा

के सिवा दूसरा कोई उपाय न सूझता था, और भिक्षा उन्होंने कभी माँगी न थी। वह चंदे जमा कर चुके थे, एक-एक मे बार हजारो वसूल कर लेते थे ; पर वह दूसरी बात थी। धर्म के रक्षक, जाति के सेवक और दलितो के उद्धारक बनकर चंदा लेने में एक गौरव था, चदा लेकर वह देनेवालो पर एहसान करते थे , पर यहाँ तो भिखारियों की भाँति हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना और फटकारें सहनी पड़ेंगी। कोई कहेगा—इतने मोटे-ताजे तो हो, मिहनत क्यो नहीं करते, तुम्हे भीख माँगते शर्म भी नहीं आती ? कोई कहेगा—घास खोद लाओ, मैं तुम्हें अच्छी मज़दूरी दूँगा। किसी को उनके ब्राह्मण होने का विश्वास न आयेगा। अगर यहाँ उनकी रेशमी अचकन और रेशमी साफा होता, केसरिया रगवाला दुपट्टा ही मिल जाता, तो वह कोई स्वाग भर लेते। ज्योतिषी बनकर वह किसी धनी सेठ को फाँस सकते थे, और इस फन मे वह उस्ताद भी थे ; पर यहाँ वह सामान कहाँ—कपड़े-लत्ते तो सब लुट चुके थे। विपत्ति में कदाचित् बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। अगर वह मैदान मे खड़े होकर कोई मनोहर व्याख्यान दे देते, तो शायद उनके दस-पाँच भक्त पैदा हो जाते ; लेकिन इस तरफ उनका ध्यान ही न गया। वह सजे हुए पडाल में, फूलों से सुसज्जित मेज के सामने, मच पर खडे होकर अपनी वाणी का चमत्कार दिखला सकते थे। इस दुरवस्था में कौन उनका व्याख्यान सुनेगा ? लोग समझेंगे, कोई पागल बक रहा है।

मगर दोपहर ढली जा रही थी, अधिक सोच-विचार का अवकाश न था। सन्ध्या हो गई, तो रात को लौटना असम्भव हो जायगा। फिर रोगियों की क्या दशा हो, वह अब इस अनिश्चित दशा मे खडे न रह सके। चाहे तिरस्कार हो, कितना ही अपमान सहना पडे, भिक्षा के सिवा और कोई

श्लोक पढ सुनाया। उनका शुद्ध उच्चारण और मधुर वाणी सुनकर सेठजी चकित हो गये, पूछा—कहाँ स्थान है ?

पण्डितजी—काशी से आ रहा हूँ।

यह कहकर पण्डितजी ने सेठजी से धर्म के दसों लक्षण बतलाये और श्लोक की ऐसी अच्छी व्याख्या की कि वह मुग्ध हो गये। बोले—महाराज, आज चलकर मेरे स्थान को पवित्र कीजिए।

कोई स्वार्थी आदमी होता, तो इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता, लेकिन पण्डितजी को लौटने की पड़ी थी। बोले—नही सेठजी, मुझे अवकाश नही है।

सेठ—महाराज, आपको हमारी इतनी खातिरी करनी पड़ेगी।

पण्डितजी जब किसी तरह ठहरने पर राजी न हुए, तो सेठजी ने उदास होकर कहा--फिर हम आपकी क्या सेवा करें? कुछ आज्ञा दीजिए। आपकी वाणी से तो तृप्ति नहीं हुई। फिर कभी इधर आना हो, तो अवश्य दर्शन दीजिएगा।

पण्डितजी—आपकी इतनी श्रद्धा है, तो अवश्य आऊँगा।

यह कहकर पण्डितजी फिर उठ खड़े हुए। सकोच ने फिर उनकी ज़बान बन्द कर दी। यह आदर-सत्कार इसलिए तो है कि मैं अपना स्वार्थ-भाव छिपाये हुए हूँ। कोई इच्छा प्रकट की और इनकी आँखें बदलीं। सूखा जवाब चाहे न मिले; पर यह श्रद्धा न रहेगी। वह नीचे उतर गये, और सड़क पर एक क्षण के लिए खड़े होकर सोचने लगे—अब कहाँ जाऊँ ? उधर जाड़े का दिन किसी विलासी के धन की भाँति भागा चला जाता था। वह अपने ही ऊपर झुँझला रहे थे—जब किसी से माँगूँगा ही नहीं, तो कोई क्यो देने लगा ? कोई क्या मेरे मन का हाल जानता है ? वे दिन गये, जब धनी लोग ब्राह्मणों की पूजा किया करते थे। यह आशा छोड़ दो कि कोई महाशय आकर तुम्हारे हाथ मे रुपये रख देंगे। वह धीरे-धीरे आगे बढे।

सहसा सेठजी ने पीछे से पुकारा—पण्डितजी, जरा ठहरिए।

पण्डितजी ठहर गये। फिर घर चलने के लिए आग्रह करने आता होगा। यह तो न हुआ कि एक दस रुपये का नोट लाकर दे देता, मुझे घर ले जाकर न-जाने क्या करेगा!

मगर जब सेठजी ने सचमुच एक गिनी निकालकर उनके पैरों पर रख दी, तो उनकी आँखों में एहसान के आँसू उछल आये। हैं, अब भी सच्चे धर्मात्मा जीव ससार में हैं, नहीं तो यह पृथ्वी रसातल को न चली जाती! अगर इस वक्त उन्हे सेठजी के कल्याण के लिए अपनी देह का सेर-आध-सेर रक्त भी देना पड़ता, तो भी से दे देते। गद्‌गद कण्ठ से बोले—इसका तो कुछ काम न था, सेठजी! मैं नहीं हूँ, आपका सेवक हूँ।

सहसा उन्हें एक कुत्ता दिखाई दिया । न-जाने किधर से आकर वह उनके सामने पगडडी पर चलने लगा । पण्डितजी चौंक पड़े ; पर एक क्षण में उन्होंने कुत्ते को पहचान लिया । वह बूढे चौधरी का कुत्ता मोती था । वह गाँव छोड़कर आज इधर इतनी दूर कैसे आ निकला ? क्या वह जानता था कि पण्डितजी दवा लेकर आ रहे होंगे, कहीं रास्ता न भूल जायँ ? कौन जानता है, पण्डितजी ने एक बार मोती कहकर पुकारा, तो कुत्ते ने दुम हिलाई , पर रुका नहीं । वह इससे अधिक परिचय देकर समय नष्ट न करना चाहता था । पण्डितजी को ज्ञात हुआ कि ईश्वर मेरे साथ हैं, वही मेरी रक्षा कर रहे हैं । अब उन्हे कुशल से घर पहुँचने का विश्वास हो गया ।

दस बजते-बजते पण्डितजी घर पहुँच गये ।

* * *

रोग घातक न था ; पर यश पण्डितजी को बढ़ा था । एक सप्ताह के बाद तीनों रोगी चगे हो गये । पण्डितजी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई । उन्होंने यम-देवता से घोर सग्राम करके इन आदमियों को बचा लिया था । उन्होंने देवताओं पर भी विजय पा ली थी—असम्भव को सभव कर दिखाया था । वह साक्षात् भगवान् थे । उनके दर्शनों के लिए लोग दूर-दूर से आने लगे , किन्तु पण्डितजी को अपनी कीर्ति से इतना आनन्द न होता था, जितना रोगियों को चलते-फिरते देखकर ।

चौधरी ने कहा—महाराज, तुम साच्छात भगवान् हो । तुम न आ जाते, तो हम न बचते ।

पण्डितजी बोले--मैंने कुछ नहीं किया । यह सब ईश्वर की दया है ।

चौधरी—अब हम तुम्हे कभी न जाने देंगे । जाकर अपने बाल-बच्चों को ले आओ ।

पण्डितजी—हाँ, मैं भी यही सोच रहा हूँ । तुमको छोड़कर अब नहीं जा सकता ।

(८)

मुल्लाओं ने मैदान खाली पाकर आस-पास के देहातों मे खूब जोर बाँध रखा था । गाँव-के-गाँव मुसलमान होते जाते थे । उधर हिन्दू-सभा ने सन्नाटा खींच लिया था । किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि इधर आये । लोग दूर बैठे हुए मुसलमानों पर गोला-बारूद चला रहे थे । इस हत्या का बदला कैसे लिया जाय,

कामना-तरु

राजा इन्द्रनाथ का देहान्त हो जाने के बाद कुँअर राजनाथ को शत्रुओ ने चारो ओर से ऐसा दबाया, कि उन्हे अपने प्राण लेकर एक पुराने सेवक की शरण जाना पडा, जो एक छोटे-से गाँव का जागीरदार था। कुँअर स्वभाव ही से शान्ति-प्रिय, रसिक, हँस-खेलकर समय काटनेवाले युवक थे। रण-क्षेत्र की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र मे अपना चमत्कार दिखाना उन्हे अधिक प्रिय था। रसिकजनो के साथ, किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए, काव्य-चर्चा करने मे उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह शिकार या राज-दरबार मे नहीं। इस पर्वत-मालाओ से घिरे हुए गाँव में आकर उन्हे जिस शान्ति और आनन्द का अनुभव हुआ, उसके बदले मे वह ऐसे-ऐसे कई राज्य-त्याग कर सकते थे। यह पर्वत-मालाओ की मनोहर छटा, यह नेत्ररजक हरियाली, यह जल-प्रवाह की मधुर वीणा, यह पक्षियो की मीठी बोलियाँ, यह मृग-शावकों की छलाँगें, यह बछड़ो की कुलेलें, यह ग्राम-निवासियों को बालोचित सरलता, यह रमणियों की सकोच-मय चपलता! ये सभी बातें उनके लिए नई थी, पर इन सबो से बढकर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी, वह जागीदार की युवती कन्या चन्दा थी।

चन्दा घर का सारा काम-काज आप ही करती थी। उसको माता की गोद मे खेलना नसीब ही न हुआ था। पिता की सेवा ही मे रत रहती थी। उसका विवाह इसी साल होनेवाला था, कि इसी बीच मे कुँअरजी ने आकर उसके जीवन मे नवीन भावनाओं और नवीन आशाओ को अकुरित कर दिया। उसने अपने पति का जो चित्र मन मे खींच रखा था, वही मानो रूप धारण करके उसके सम्मुख आ गया। कुँअर की आदर्श रमणी भी चन्दा ही के रूप मे अवतरित हो गई, लेकिन कुँअर समझते थे—मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? चन्दा भी समझती थी—कहाँ यह और कहाँ मैं!—

(२)

दोपहर का समय था और जेठ का महीना। खपरैल का घर भट्टी की भाँति